विश्वेश्वरानन्द-संस्थान प्रकाशन—१८७

सर्वदानन्द-विश्व-ग्रन्थमाला
SARVADANAND UNIVERSAL SERIES

स्वर्गत (The Late)
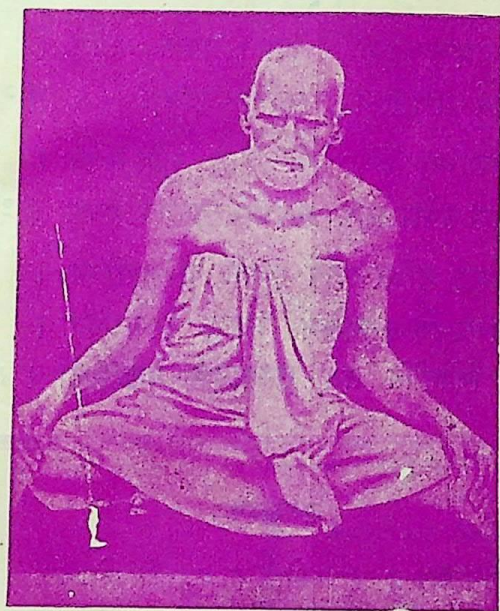
श्रीमान् स्वामी सर्वदानन्द
Shri Swami Sarvadanand

सं. १९१६–९९ (1859–1942)

ग्रन्थ ३४

Volume XXXIV

ग्रन्थमाला-स्मारक-समर्पण-सङ्कल्पः

★ पञ्चापे लब्धजन्माऽऽसीद् होश्यारपुर-पार्श्वतः ।
महात्मा **सर्वदानन्दस्** सिद्ध-तपा यतीश्वरः ॥१॥

★ वेद-वेदाङ्ग-सच्छ्रद्धो वेदान्त - शान्त - मानसः ।
सत्यधर्म - प्रचारेच्छुस् - लोकसेवा - दृढव्रतः ॥ २ ॥

★ सत्प्रेरणाभिराशीभिर् यः खलु मुनि-सत्तमः ।
अस्माकं सर्वदा मान्यः **संस्थानस्याऽस्य** पोषकः ॥ ३ ॥

★ तस्याऽस्तु सुचिर-स्मृत्यै पूजायै च मनस्विनः ।
सद्ग्रन्थ-विश्व-मालेयं श्रद्धया परयाऽर्पिता ।
इति निवेदयेते तत् - **सम्पादक - प्रकाशकौ** ॥ ४ ॥

सम्पादकः

विश्वबन्धु शास्त्री, ऍम. ए., ऍम ओ. ऍल.

प्रकाशकः

वि. वैदिक शोध संस्थान

होशिआरपुर

स. वि. ग्रन्थमाला — ३४

भारतीय नवोदय के अग्रदूत
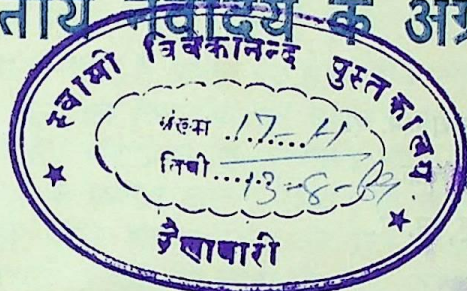
- राजा राममोहन राय
- स्वामी दयानन्द
- स्वामी विवेकानन्द
- स्वामी रामतीर्थ
- श्रीअरविन्द

१९६१

पंजाब सरकार के भाषा विभाग
की सहायता से प्रकाशित

●

लेखक :
अखिल विनय एम. ए.
सुदर्शनसिंह चक्र
महीप सिंह एम. ए.
रामकृष्ण
महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

●

●

मूल्य 4.00

●

प्रकाशक तथा मुद्रक—
देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,
वि. वैदिक शोध संस्थान प्रैस,
साधुआश्रम, होशिआरपुर

आमुख

जैसा नाम से विदित है, प्रस्तुत ग्रंथ में भारतीय नवोदय (रिनेसां) के पाँच चुने हुए महापुरुषों का संक्षिप्त जीवन तथा कार्यवृत्त दिया गया है। नवोदय का यह आन्दोलन भारत में अंग्रेज़ों के जड़ जमाने के लगभग तुरन्त पश्चात् ही आरम्भ हो गया। इसका एक कारण था पराधीनता और दूसरा कारण था अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार। पहले की अपेक्षा भी दूसरे कारण को अधिक महत्त्व देना उचित है क्योंकि, भारत तो इससे बहुत पूर्व ही पराधीन हो चुका था; परन्तु कई शताब्दियों के उस सुदीर्घ काल में किसी भी प्रकार का सांस्कृतिक पुनरुत्थान नहीं हुआ। इसके विपरीत, अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार होते ही पढ़े-लिखे लोगों में अभूतपूर्व मानसिक हलचल मच गयी; यही नहीं, उनमें राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता के विचार भी उबल-उबल कर प्रकट होने लगे। इससे यह स्पष्ट है कि यह योगदान पाश्चात्य संस्कृति के ही कारण हुआ जो अंग्रेज़ी भाषा तथा ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से यहाँ आई।

नवोदय की यह हलचल सांस्कृतिक और राजनीतिक, दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रकट हुई। परन्तु यह हलचल पहले सांस्कृतिक क्षेत्र में ही प्रकट हुई; क्योंकि भारतीय समाज का व्यक्तित्व आरम्भ से ही धार्मिक रहा है। फिर इसी की अगली कड़ी के रूप में, राजनीतिक क्षेत्र भी इस आन्दोलन से व्याप्त हो गया जिसका अन्तिम परिणाम भारत की स्वाधीनता के रूप में सम्मुख आया।

प्रस्तुत ग्रंथ में मुख्यतः सांस्कृतिक नवोदय के ही नेताओं को, जिनके जनक राजा राममोहन राय थे, लिया गया है। राजा राममोहन राय ने ही पहले-पहल भारतीय समाज के दुर्गुणों को दूर करने का आन्दोलन उठाया और ब्राह्म-समाज के नाम से अपनी कल्पना के एक आदर्श समाज, या संस्था, की नींव डाली। यह परम्परा केशवचन्द्र सेन, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर आदि में चलती रही और बंगाल तथा आस-पास के क्षेत्रों के सामाजिक परिवर्तन इन्हीं लोगों के कारण सम्भव और सम्पन्न हुए।

दूसरा मुख्य आन्दोलन आर्य-समाज का था जिसके जन्मदाता स्वामी दयानन्द थे। यह आन्दोलन मुख्यतः पंजाब, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि में फैला और हिन्दू जनता को प्राचीन रूढ़ियों से मोड़ कर शुद्ध वैदिक परम्परा में दीक्षित करने में समर्थ हुआ। इस आन्दोलन की एक महती सफलता यह है कि इसने बहुत समय के बाद हिन्दू जाति को वेदों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया।

श्री रामकृष्ण परमहंस वे तीसरे महापुरुष थे जिनके शिष्य, स्वामी विवेकानन्द के कारण भारतीय संस्कृति तथा धर्म दर्शन की ओर पहली बार विदेशों का ध्यान आकृष्ट हुआ। फिर विदेशों में प्राप्त इस सफलता के कारण ही भारत में भी अपनी प्राचीन सम्पत्ति को गौरव तथा आदर प्राप्त हुआ। मठ और मिशन के रूप में आज भी यह संस्था, विदेशों, विशेषतः अमेरिका में, तथा भारत में भी प्रचार और सेवा का कार्य कर रही है।

इसी श्रेणी में स्वामी रामतीर्थ आते हैं जो विद्युत् की तरह विदेशों तथा भारत को, उसके धर्म-दर्शन की ज्योति से प्रकाशित कर, सदा के लिए अदृश्य हो गये। वे ३३ वर्ष से अधिक नहीं जीवित रहे। फिर भी उनकी रचनाओं में, जो मुख्यतः भाषणों

के रूप में हैं, वह अद्वितीय प्रेरणा तथा जीवनी-शक्ति है जो विरलों में ही दिखाई देती है।

अन्त में श्रीअरविंद को लिया गया है जिनके दर्शन तथा योग को मानवता के भविष्य का महाद्वार माना जाता है। उन्होंने अध्यात्म जगत् में विकासवाद की स्थापना की तथा उसके अगामी रूप, अतिमानस, के अवतरण के लिए जीवन भर प्रयत्न किया। वास्तव में, श्रीअरविंद उस सूर्य की तरह हैं जो दिग्दिगन्त को प्रकाशित करता है। उनके योगदान को आगामी युग तथा उनकी पीढ़ियाँ हमारी अपेक्षा अधिक पूर्णता से हृदयंगम करेंगी।

इस प्रकार इन पाँच प्रमुख व्यक्तित्वों के माध्यम से—इसे इस युग की सांस्कृतिक पंचायत भी कह सकते हैं—यह एक सम्पूर्ण काल को प्रदर्शित करने की चेष्टा है। और भी व्यक्ति लिये जा सकते थे या इन्हीं को और भी विस्तार से लिखा जा सकता था। परन्तु हमने ऐसा नहीं किया क्योंकि एक निश्चित पृष्ठ-संख्य के भीतर ही यह कार्य सम्पूर्ण करना था।

सभी चरित्र सुयोग्य लेखकों द्वारा लिखाये गये हैं। उन सबने अपने विषयों का विशेष अध्ययन किया है। इसलिए भी यह विश्वास होता है कि सभी पाठकों को, आकार तथा प्रकार दोनों की दृष्टि से, प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री सन्तोषजनक प्रतीत होगी।

प्रकाशक

नाम			पृष्ठ
राजा राममोहन राय	...	...	१–६४
स्वामी दयानन्द	...	...	६५–१२४
स्वामी विवेकानन्द	...	...	१२५–१८६
स्वामी रामतीर्थ	...	...	१८७–२५०
श्रीअरविंद	...	...	२५१–३०३
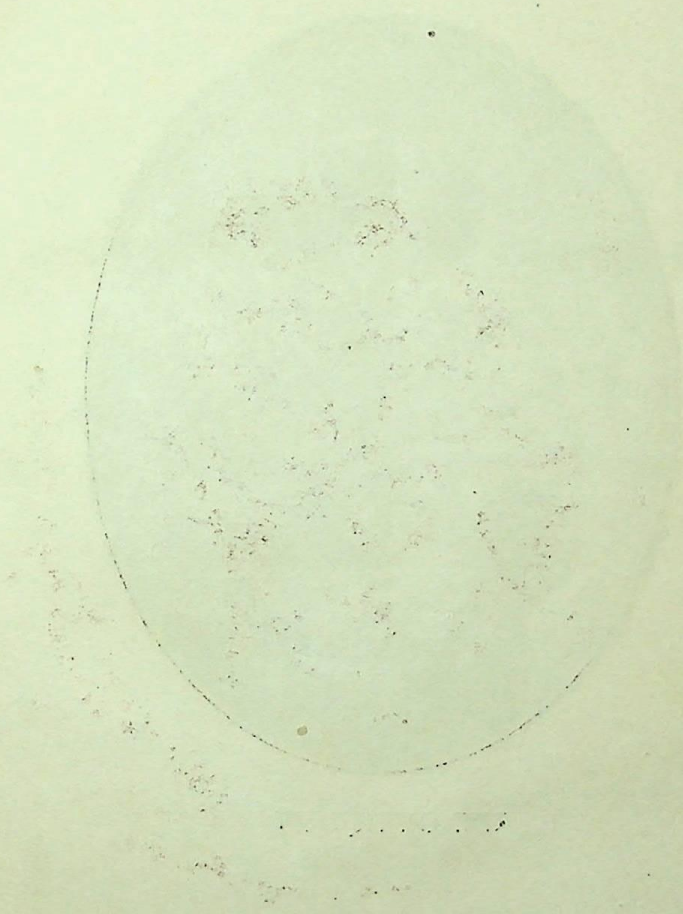
राजा राममोहन राय

नवोदय के पिता

राजा राममोहन राय

[१७७२—१८३३ ई.]

अखिल विनय

"संघर्ष केवल सुधारकों तथा गैर-सुधारकों के मध्य ही नहीं हैं, प्रत्युत समस्त विश्व में स्वाधीनता और अत्याचार के मध्य हैं; न्याय और अन्याय के मध्य हैं; उचित और अनुचित के मध्य हैं। लेकिन इतिहास की विगत घटनाओं पर दृष्टिपात करने से, हमें यह भली-भांति स्पष्ट होता है कि राजनीति में और धर्म में लम्बे काल से क्रमशः, किन्तु दृढता के साथ, उदार सिद्धान्त स्थान लेते जा रहे हैं—अत्याचारियों तथा धूर्तों के विरोध और हठों की परवाह किये बिना ही।"

—राममोहन राय

पृष्ठभूमि

आज से १९० वर्ष पूर्व, जब बालक राममोहन का जन्म हुआ, हमारे देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति वह नहीं थी जो आज है। आज हम स्वाधीनता के वायुमण्डल में साँस ले रहे हैं। लेकिन उन दिनों इस देश को "कुलियों का देश" कहा जाता था। धर्म के नाम पर यहाँ अत्याचार का बोल-बाला था। कट्टर-पंथियों की तूती बोलती थी। जात-पाँत का राजरोग क्रमशः व्याप्त हो रहा था। देश अविद्यान्धकार से ग्रस्त था।

दो हजार वर्ष तक हम गुलाम बने रहे। धर्म के पोंगा-पंथियों ने रूढिवाद की बेड़ियों से हमें जकड़े रखा और एक प्रकार से हमारी स्वतंत्र विचार-शक्ति ही नष्ट हो गयी। यहाँ शक आए, कुषाण आए, हूण आए, सब हम में खप गए; परन्तु फिर धर्मध्वजियों ने धर्म की परिभाषा ही अत्यन्त संकुचित कर डाली। आपस के द्वेष और ईर्ष्या ने हमारे राष्ट्रीय-जीवन में घुन लगा दिये। प्राचीन वैदिक धर्म और

एकता का महामंत्र भूल कर हम विनाश के कगार पर बैठ मौत की घड़ियाँ गिन रहे थे !

हमारे नैतिक मूल्य बदल चुके थे। नैतिक परिवर्तनों के साथ-साथ हमारे धार्मिक विचारों में भी उथल-पुथल मची थी। मुख्य तत्त्व लुप्त होकर धर्म का खोखला रूप रह गया था। एक अद्वितीय ब्रह्म की उपासना के स्थान पर पाखण्डी पण्डे-पुजारियों और निहित-स्वार्थ वालों की कृपा से अनेक देवी-देवताओं की कल्पना कर ली गयी और उन्हें मन्दिरों में स्थापित कर दिया गया। यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाने लगी। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था विश्रृङ्खलित हो गयी और उसके स्थान पर जाति-पांति के अनेकानेक बन्धन दृढ होते गए। बाल-विवाह की वेदी पर बच्चों का बलिदान किया जाता और लाखों लड़कियाँ बाल्यकाल में ही वैधव्य का टीका लगा कर आजीवन अपने भाग्य को कोसा करतीं। विधवा-विवाह समाज-सम्मत नहीं था !

स्वर्ग के प्रलोभन और सामाजिक दण्ड का भय दिखा कर मृत पति के साथ जीवित पत्नी को बलात् जलाकर 'सती' बनाने की प्रथा भी व्याप्त हो रही थी। बाहर से आने वालों ने हिन्दू-धर्म के जर्जरित वृक्ष को देखा ! धर्म-परिवर्तन का जोर बढ़ने लगा। ऐसे समय में प्रसुप्त हिन्दू-जाति में उद्‌बुद्ध चेतना जागृत करने का श्रेय राजा राममोहन राय को है। वे ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस युग में धर्म-सुधार की ओर ध्यान दिया। उन्हीं के दिखाए मार्ग पर 'आर्य समाज', 'देव समाज' और 'प्रार्थना समाज' बाद में बने। आज जब उन्हें *आधुनिक भारत का पिता* कहा जाता है तो यह सर्वथा उचित है।

राजा राममोहन राय ने प्रण किया था—'*जिस समय तक देश में मूर्ति-पूजा समाप्त नहीं हो जाती, ईश्वर-पूजा के नाम पर नारकीय, दानवी लीलाएँ नष्ट नहीं हो जातीं और स्त्रियों को मानव-अधिकारों से वंचित रखने के भाव की इतिश्री नहीं हो जाती उस समय तक मैं संघर्ष करता रहूँगा।*' और सत्य ही वे पाखण्ड का खण्ड-खण्ड करने के लिए जीवन-भर जूझते रहे। ईसाई धर्म में सुधार एवम् शीलता लाने के लिए जो कार्य जॉन विकलिफ ने किया, वही भारत में हिन्दू-धर्म के पुनरुद्धार के लिए राममोहन राय ने किया।

"*विचार-विश्वास में*
वचन-बुद्धिमत्ता में
कृत्य और साहस में
जीवन और सेवा में
भारत महान् बने।"

राष्ट्रपति-भवन (नयी दिल्ली) के सामने के स्तम्भ पर अंग्रेजी में खुदे हुए शब्दों का यह हिन्दी भावानुवाद है। किन्तु ये शब्द अन्य किसी के जीवन की अपेक्षा राममोहन राय के जीवन पर पूरी तरह चरितार्थ होते हैं। सचमुच, राममोहन राय भारत में आधुनिक युग के प्रणेता थे।

ब्रिस्टल में एवॉन और फ्रॉम के संगम पर स्थित ईसाई कब्रगाह में हिन्दुओं के मन्दिर की भांति निर्मित एक समाधि-चिह्न आज भी देश-विदेश के दर्शकों के लिए पुण्य-स्थल बना हुआ है। उस समाधि पर लगे शिलालेख में खुदा हुआ है : '*इस शिला के नीचे एकेश्वरवाद के समर्थक और दृढनिष्ठ राजा राममोहन*

राय बहादुर के अवशेष विश्राम कर रहे हैं।' मध्य-विक्टोरिया युग के विशिष्ट व्यक्तियों ने उस शिलालेख पर राममोहन की प्रशस्ति में भी बहुत-कुछ लिखा। फिर भी, ये प्रश्न नितान्त स्वाभाविक हैं कि भारत का यह लाडला-लाल वहाँ कैसे पहुँचा ? किन-किन परिस्थितियों में वह गुजरा ? अपने देश के लिए उसने क्या किया ? उसकी जीवन-यात्रा कहाँ से प्रारम्भ हुई ?

शान्तिनिकेतन (विश्वभारती विश्वविद्यालय) के स्वप्न-द्रष्टा, कविगुरु रवीन्द्रनाथ के पिता और ब्राह्म-समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपने ८०वें वर्ष में कतिपय संस्मरण सुनाते हुए कहा था—

"राजा राममोहन राय का पोषित-पुत्र—राजाराम बहुत नट-खट था और वह राजा के साथ बहुत-प्रकार से खेला करता. चालाकियाँ चला करता, किन्तु इन सबसे राजा कभी विचलित न होते, न नाराज होते। उनका मानसिक संतुलन कायम रहता। सच कहूँ तो राजा राममोहन राय का, मेरे सम्पर्क में आए सभी लोगों में, मधुरतम स्वभाव था। एक दिन जब मैं उनके घर पहुँचा तो वे दोपहर की तन्द्रा में तल्लीन थे। वे एक खटिया पर लेटे गहरी नींद में थे। राजाराम ने मुझे बुलाया—'क्या एक तमाशा देखोगे ? तो आओ।' मैं उसके पास गया और वह चुपके-से राजा के बिस्तर पर चढ़ गया तथा अचानक राजा पर लपका और छाती पर पड़ रहा ! राजा राममोहन राय जरा भी विचलित न हुए, वे जाग गए और 'राजाराम, राजाराम' कहते उन्होंने उसे अपनी बाँहों में समेट लिया।"

जन्म और वंश-परम्परा

स्नेहपूर्ण स्वभाव और ऐसे आकर्षक व्यक्तित्व वाले राजा राममोहन राय की वंश-परम्परा का उल्लेख करते हुए 'ब्राह्म-समाज का इतिहास' के लेखक जी. एस. लिग्रानॉर्ड ने कहा है कि १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में, महाकवि चैतन्य के शिष्यों में एक प्रमुख शिष्य नरोत्तम ठाकुर (जिन्होंने बंगाल में धार्मिक पुन-र्जागरण के लिए एक नवीन धारा बहायी थी और अपना गहरा प्रभाव अङ्कित किया था।) के वे वंशज थे। अन्य कुछ लेखकों का मत है कि वे सम्राट् हर्ष के राज्यकाल में कन्नोज के ख्याति-प्राप्त विद्वान् भट्टनारायण के वंशज थे, जो पूर्वी बंगाल में आकर बस गए थे। इस प्रकार २० पीढ़ी पूर्व का इतिहास खोजने की भी चेष्टा की गयी है। अस्तु,

सन् १७७२ का वर्ष था और मई मास की २२ तारीख। उसी दिन बंगाल के एक छोटे ग्राम राधानगर में श्री रामकान्तराय के घर एक बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम राममोहन रखा गया। इस प्रकार हुगली नदी की सहायिका दरकेश्वर के तट से राजा राममोहन राय की जीवन-धारा का सूत्रपात हुआ।

उन दिनों राधानगर बर्दवान जिले में था, फिर हुगली जिले में स्थानान्तरित हो गया। राममोहन के प्रपितामह कृष्णचन्द्र वन्द्योपाध्याय मुर्शिदाबाद के नवाब के दरबारी थे और उन्होंने ही अवकाश-प्राप्ति के अनन्तर निवास के लिए यह स्थान पसन्द किया था। उनके जीवन के अंतिम वर्ष भी वहीं व्यतीत हुए। नवाब के द्वारा (जो उस समय बंगाल का सर्वसत्तासम्पन्न शासक ही था।) उन्हें वंशानुगत "राय-रायन"

की उपाधि दी गयी थी तथा उसी का संक्षेप "राय" हो गया, जो राममोहन के नाम के साथ जुड़ा है।

मुर्शिदाबाद के नवाब सिराजुद्दौला के यहाँ कृष्णचन्द्र के तीन पुत्रों में सब-से-छोटे ब्रजविनोद राय भी एक ऊँचे पद पर थे और कहते हैं कि अपने सम्मान को हानि पहुंचने के कारण त्याग-पत्र देकर पृथक् हो गए थे। सिराजुद्दौला को कुछ लोगों ने 'बंगाल का नीरो' कहा है। किन्तु ब्रजविनोद राय उनसे इतने रुष्ट नहीं हुए, अन्यथा अपने पुत्रों में रामकान्त राय (राममोहन के पिता) को उनके यहाँ कार्य कभी न करने देते। लेकिन रामकान्त राय को भी, अपने पिता की ही भांति, मुर्शिदाबाद छोड़कर राधानगर आना पड़ा।

१८३३ में "लिट्ररी गजट" (लन्दन) में सेण्डफॉर्ड अर्नोट का पत्र छपा था। उसमें राजा राममोहन राय की आत्मकथात्मक जीवनी का जिक्र करते हुए बतलाया गया था कि उनके पूर्वज अन्य ब्राह्मणों की भांति पूजा-पाठ करके आजीविका की व्यवस्था करते थे। धीरे-धीरे वह क्रम बदल गया और उन्होंने अन्य साधन खोज निकाले तथा नवाबों के यहाँ कार्य शुरु कर दिया। राममोहन के मातृकुल में अब भी पौरोहित्य कर्म ही होता था। उनके पिता अपने भाइयों में पाँचवें थे और मुर्शिदाबाद से चले आने के बाद वे अपने हिस्से की पैतृक सम्पत्ति की देख-रेख करने लगे। साथ ही साथ महारानी विष्णुकुमारी (बर्दवान के राजा तेजचन्द की माता) की जमींदारी की व्यवस्था का कार्य भी वे करने लगे। उनकी जमींदारी राधानगर के निकट ही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन था। समृद्ध परिवारों में एक से अधिक शादियाँ करना गौरव की

बात समझी जाती थी। रामकान्त राय की दूसरी पत्नी से ही राममोहन पैदा हुए थे। तारिणीदेवी के तीन सन्तानें थीं। राममोहन से बड़े—उनके भाई जगमोहन थे और एक छोटी बहिन थी। तारिणीदेवी को उनके परिवार में "फूल-ठकुरानी" भी कहा जाता था, क्योंकि वह पंचम पुत्र की पत्नी थीं। वैसे रामकान्त के उनसे बड़ी पत्नी सुभद्रा देवी और तीसरी पत्नी राममणि देवी थी। अंतिम पत्नी से उन्हें रामलोचन नामक सन्तान की उत्पत्ति भी हुई थी।

तारिणीदेवी एक विदुषी महिला थीं और घर के काम-काज के अतिरिक्त वह अपने पति के कार्यों में भी योग दिया करतीं। रामकान्त राय अपने गृहोद्यान में तुलसी के पौदों के मध्य बैठ कर जप-ध्यान किया करते थे, तो वह भी कम धार्मिक नहीं थी। माता-पिता की इस धार्मिक प्रवृत्ति के संस्कार बच्चों पर भी पड़े बिना न रहे। राममोहन के बारे में कहा यह जाता है कि बचपन में कुछ समय तो वह भागवत पुराण के कुछ अंशों का उच्चारण किये बिना "पानी की एक बूँद" भी मुँह में नहीं रखते थे। वही बालक बड़ा होकर धर्म के बाह्याडम्बर का पूरा विरोधी बन गया था।

प्रारम्भिक जीवन

राममोहन राय के प्रारम्भिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश उनके द्वारा नहीं डाला गया; अपने बचपन और यौवन के कम ही संस्मरण उन्होंने लोगों को बताए। उन दिनों

बाल-विवाह का बोल-बाला था और राममोहन का प्रथम विवाह भी तब ही हो गया था, जब वे अपने नाम का भी उच्चारण नहीं कर सकते थे ! तिस पर दुर्भाग्य यह कि विवाह के कुछ समयोपरान्त उनकी भार्या का निधन हो गया । बचपन में ही दूसरा विवाह किया गया और तीसरा विवाह १७९९ में हुआ ।

बालक राममोहन की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा राधानगर में ही हुई । बंगला सिखलाने के लिए एक शिक्षक रखा गया जो रटन्त विद्या का ही अधिक पक्षपाती था। वही 'गुरु महाशय' उन्हें संस्कृत भी पढ़ाया करते । वैसे अपने अध्ययन की प्राथमिक सीढ़ियों में उन्हें अपने बड़े भाई जगमोहन से काफी सहायता मिली । उन दिनों ऊँचे वर्ग के लोगों में फारसी पढ़ना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझा जाता था; दूसरे उनके पिता 'ईसाई नवाबों' के यहाँ कार्य के लिए (क्योंकि बंगाल में तब उन्हीं का शासन हो चला था ।) अपने दूसरे पुत्र को फारसी का ज्ञान कराना बहुत आवश्यक समझते थे ।

उस समय कचहरियों की भाषा भी फारसी ही थी । पहले तो राममोहन को स्थानीय मौलवी के यहाँ फारसी पढ़ने के लिए भेजा गया, किंतु वह पर्याप्त न था । इसीलिए ३०० मील दूर भेजने का निर्णय हुआ—क्योंकि पटना उन दिनों अरबी तथा फारसी के अध्ययन-अध्यापन का प्रसिद्ध केन्द्र था । ९-१० साल के बालक को घर से इतने दूर भेजना सचमुच एक साहसी पग था और, संभवत:, यही कारण है कि बालपन में ही उस साहस का पाठ अपने पिता से राममोहन

ने पढ़ लिया था। शायद उनके बाद के जीवन में घुमक्कड़ी का यह सूत्रपात था।

पटना में रहते हुए राममोहन ने युक्लिड के सिद्धान्तों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया और उन्हें अरस्तू की प्रगाढ विद्वत्ता का भी परिचय मिला। फिर भी यह कह सकना कठिन है कि अपरिपक्वावस्था में उनकी बुद्धि कितना ग्रहण कर पा सकी। वहीं उन्हें इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का पता चला और यह स्वाभाविक ही था कि इससे उनके मन में एकेश्वरवाद के बीज को प्रश्रय मिला और जो बाद के जीवन में एक वृक्ष का रूप धारण कर सका। धर्म के आडम्बरवाद से वे पटना में परिचित हो गए थे। संभवतः यही कारण है कि उन्हें वहाँ से बनारस भेजा गया।

धार्मिक माता कभी इस पक्ष में न थी कि उसका पुत्र पटना में मौलवियों के द्वारा अरबी और फारसी पढ़े, क्योंकि वह भलीभांति जानती थी कि उन भाषाओं से संबंधित धर्म और संस्कृति का असर पड़े बिना रहेगा नहीं। मुस्लिम सभ्यता से तो वे अन्त तक प्रभावित रहे और 'ब्राह्म-समाज' की सभाओं में भी वे वैसी ही पोशाक पहन कर जाते थे और चाहते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस संस्मरण का अच्छा उल्लेख किया है—

> "समाज लगने के दिन, राजा के मित्र उनके माणिक टोला स्थित उद्यान-भवन में एकत्र होते तथा वहाँ से जलूस बनाकर जोड़ा-साकू में प्रार्थना-स्थल पर पहुँचा करते। राजा का विचित्र ख्याल यह था कि ऐसे समय में सवारी पर न जाकर पैदल ही जाना उचित है, क्योंकि वह पवित्र स्थल की यात्रा होती थी। वे ऐसे अवसरों

पर ठीक से वस्त्र पहनकर जाते थे जैसा कि उन दिनों मुस्लिम सभ्यता से प्रभावित पोशाक का रिवाज था। वे कभी भी समाज में धोती-चादर पहने हुए नहीं जाते थे! इसके विपरीत मेरे पिता ब्राह्म-समाज में जाते हुए हमेशा धोती ही पहनते तथा ऊपर चादर डाल लिया करते। एक दिन राजा ने बाबू आनन्दप्रसाद वन्द्योपाध्याय (तेलिनीपाड़ा के जमींदार) से इस बारे में चर्चा भी की थी। वे पिता जी के भी मित्र थे।''

माता का विचार था कि बनारस जाने से बेटे के सब पाप धुल जाएंगे और मौलवियों के संग रहने की छूतछात भी दूर हो जायेगी। पिता यह चाहते थे कि राममोहन पढ़-लिख कर संस्कृत का विद्वान् बन जाए। बनारस हिन्दुओं का तीर्थ-स्थान ही नहीं, हिन्दू-धर्म और संस्कृति का केन्द्र भी प्राचीन काल से रहा है। अपनी किशोरावस्था में भी राममोहन बहुत अध्ययनशील थे तथा चार वर्ष बनारस रह कर उन्होंने उपनिषद् आदि के बारे में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। सच पूछिए तो वह उनका विकास-काल था और विचारों की प्रौढता तो १२-१३ साल बाद आयी होगी। किन्तु बनारस से लौटते हुए भी उनकी अवस्था १८ वर्ष से कम न थी और यह लगभग १७९० ई० की बात है। कुशाग्रबुद्धि युवक के लिए इसी अवस्था तक असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं।

राममोहन राय के बनारस जाने के पूर्व की भी एक कथा है। कहते हैं कि पटना से लौटने पर प्रतिदिन वह कुछ लिखते

हुए दिखायी पड़ते थे। बड़े ध्यान-मग्न होकर वह लिखते और अपने लेखन को छिपा कर रख देते। एक दिन गुप्त रूप से पिता को यह पता चल गया कि वह सब तो उनके पुरातन धार्मिक विश्वासों और मूर्ति-पूजा के विरोध में एक पुस्तक ही है। इसने वैमनस्य को जन्म दिया। विलियम एडम ने १८७९ में प्रकाशित अपनी एक कृति में इस बात का सविस्तार उल्लेख किया है। पिता और पुत्र में ऐसे विषयों को लेकर बहस छिड़ जाती थी। जब पिता अपने दिल का गुब्बार निकाल लेते तो राममोहन 'किन्तु' से प्रारम्भ करके उनकी दलीलों को काट दिया करते!

कहते हैं कि इसी प्रश्न को लेकर एक दिन राममोहन को घर छोड़ना पड़ा। उन्होंने अपने विचारों के आगे झुकना नहीं सीखा था। उस धीर-वीर युवक ने घर त्याग दिया और वह हजारों मील की पैदल-यात्रा करता रहा। कुछ साधुओं का साथ पाकर युवक राममोहन तीर्थ-स्थलों में घूमता हुआ कैलास-मानसरोवर होकर तिब्बत में भी चला गया। पटना में रहते हुए ही बौद्ध-धर्म के अध्ययन की लालसा उनके मन में उत्ताल तरंगें ले रही थी। किन्तु जब ल्हासा में दलाई लामा को पूजते देखा तो उन्हें ठेस लगी। मूर्ति-पूजा के खण्डन के कारण लामाओं के क्रोध के वे शिकार बने। इससे पहले कि उन्हें वहाँ समाप्त कर दिया जाता, एक तिब्बती महिला ने प्राण-रक्षा करके उन्हें भारत लौटा दिया। इधर उनके पिता भी दुःखित थे और वे राधानगर पहुंच गए। वहीं से उन्हें बनारस भेजा गया।

प्रोफेसर यू० एन० बाल के अनुसार राममोहन राय २-३ वर्ष तक तिब्बत में रहे। इसके विपरीत अन्य लोगों का मत

है कि वे वर्षों भटकते तो रहे पर तिब्बत न जा सके, क्योंकि उनके ग्रन्थों में बौद्ध-दर्शन का उल्लेख नहीं है। कुमारी कोल्लेट के मतानुसार वे बनारस जाकर १०-१२ वर्ष रहे, किन्तु इकबालसिंह ने उनकी जीवनी (अक्तूबर १९५८ में बम्बई से प्रकाशित) में लिखा है कि यद्यपि वे अपने श्वसुर श्याम भट्टाचार्य के बनारस में स्थायी निवास के कारण कई बार बनारस तो गए, पर इतने लम्बे समय तक वहाँ रुकना ठीक नहीं ज्ञात होता। १०-१२ वर्षों तक पिता के ऊपर आधारित रहना तथा पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ करके आजीविका कमाना राममोहन-से स्वाभिमानी युवक के लिए उपयुक्त नहीं जंचता।

प्रथम प्रकाशन

भारत में नूतन क्रान्ति के लिए एक नवीन व्यक्ति की आवश्यकता थी—ऐसा व्यक्ति जो स्वनिर्मित हो। बुर्जुआ समाज के खण्डहरों से नए प्रकार के व्यक्ति, ज़माने की जरूरत के अनुसार, निकलते जा रहे थे। स्वनिर्माण के इस कार्य में राममोहन राय भी आगे बढ़ रहे थे। सरदार के. एम. पणिकर ने अपनी पुस्तक 'एशिया और पाश्चात्य प्रभुत्व' (Asia and Western Dominance) में एक स्थान पर निर्देश किया है कि राममोहन राय का फ्रांसीसी मानववादी एवं कोषकार कॉन्डोरसेट (जिनका कि बोर्ग-ला-रेने की जेल में निधन हुआ था।) से पत्र-व्यवहार हुआ था। उन्होंने किसी तिथि का उल्लेख नहीं किया, परन्तु यह पत्र-व्यवहार १७९४ के बाद

ही हुआ होगा। २२ वर्ष की अवस्था के बाद ही राममोहन राय ने उनकी क्रान्तिकारी फ्रेंच कृति पढ़ी होगी। कलकत्ता में सर्वप्रथम १७९७ में यूरोपीय लोगों से राममोहन की मैत्री हुई थी।

यह सत्य है कि राममोहन राय को पिता अपने व्यवसाय में दीक्षित करना चाहते थे। १७९१ में रामकान्त राय ने राधानगर के पैतृक मकान को त्याग कर लंगरपाड़ा को अपना लिया था तथा वहाँ विशाल प्रासाद निर्मित कराकर रहने लगे थे। उससे संलग्न विशाल उद्यान भी था और वे एक बड़े जमींदार की भांति रहते थे। उसी वर्ष (१७९१) से बड़े भाई जगमोहन पूरी तरह व्यापार में लग चुके थे और उन्होंने किराये में एक लाख की वार्षिक आय से अधिक आमदनी वाली जायदाद का ठेका भी लिया था। राममोहन राय भी लेन-देन के कार्य में जुट गए और उनके सहायक थे—उनके मित्र श्री नन्दकुमार विद्यालंकार।

अपने कार्य के सिलसिले में उन्हें बहुधा कलकत्ता जाना पड़ता था। १७९२-९४ के मध्य उनका कलकत्ता-प्रवास प्रारम्भ हुआ। तब यह धनिकों की एक आबाद बस्ती मात्र नहीं रहा था—जो १६९० में, हुगली के किनारे मच्छीमारों के ग्राम—कलिकात्ता में, जॉब चारनोक द्वारा बसायी गयी थी। एक ही शताब्दी में वह बस्ती एक विशाल नगर का रूप ले चुकी थी। १७७४ से वहाँ लाट साहब (गवर्नर-जनरल) का निवास शुरु हो गया था तथा सर्वोच्च न्यायालय भी वहीं बन गया था और इस प्रकार भारत में ब्रिटिश सत्ता की वह नगरी शासकीय राजधानी थी। पूर्वी जगत् का भी वह नगर सर्वोच्च व्यापारिक स्थल बन चुका था। राममोहन राय भी

कलकत्ता रहने लगे थे। १७९६ में उनके पिता ने सम्पत्ति का. बंटवारा किया और अपने बाल-सखा नन्दकुमार विद्यालंकार की साझेदारी से उन्होंने स्वयं भी काफी सम्पत्ति अर्जित कर ली।

सुधार और विद्रोह की भावना तो प्रारम्भ से ही प्रबल थी। उसका प्रतिफलन १८०३ में हुआ—जब राममोहन राय ने अपनी प्रथम कृति "तुहफ्त-उल-मुवाहिदीन" ('एकेश्वर-वादियों को भेंट') अपने ही व्यय से छपवाकर प्रकाशित करायी। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी विशद विचारावली की एक संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत की तथा उसके अंतिम पृष्ठों में बृहत्तर ग्रन्थ "मनजरात-उल-आदियान" ('विभिन्न धर्मों पर विचार-विमर्श') के प्रकाशन की घोषणा उनके द्वारा की गयी थी। दुर्भाग्यवश दूसरी पुस्तक की एक भी कृति उपलब्ध नहीं है और यह भी शंकास्पद है कि वस्तुतः उस रूप में फिर कभी उन्होंने वह पुस्तक लिखी भी अथवा नहीं।

जो हो, राममोहन राय की यह प्रथम कृति, १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित ग्रन्थों में यदि सबसे महत्त्वपूर्ण न कही जाए तो भी इसे एक विशिष्ट प्रकाशन अवश्य ही कहा जाएगा। भारत के धार्मिक इतिहास में अद्वैत और द्वैत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन—१४वीं शताब्दी के बाद से—कोई नयी चीज नहीं थी। राममोहन राय की विशिष्टता यही है कि उन्होंने धार्मिक मान्यताओं की विविधताओं और भेद-भाव से हटकर सब धर्मों की सैद्धान्तिक एकता की ओर सर्व-साधारण का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने बतलाया कि 'चराचर जगत् का स्रोत एक ही है और उसी का व्यक्तित्व सब ओर आच्छादित है तथा हम सब उसी से शासित हैं।'

नानक, दादू, कबीर ने भी इसी भांति कहा था, परन्तु वह कविता की भाषा में था ।

जीवन-निर्माण की ओर

राममोहन राय ने लेन-देन के व्यापार में अच्छी साख बना ली थी । यहाँ तक कि १७९७ में ही उन्होंने ऐण्ड्र रामसे को (जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक अधिकारी थे ।) शर्तनामा भराकर ७५०० रुपये ब्याज पर दिये थे । थॉमस वुडरोफ के कारिन्दे जुगरनोत मजूमदार को भी १८०२ में उनके द्वारा ५०००) का कर्ज दिलवाया गया था । अपने बढ़ते हुए कार्य की व्यवस्था के लिए उन्होंने गोपीमोहन चटर्जी को कोषाध्यक्ष के रूप में रख लिया था । अपनी सम्पदा की वृद्धि के लिये वे पटना और बनारस तक का चक्कर भी लगाया करते ।

उधर उनके पिता एवं भाई की आर्थिक स्थिति खराब हो चली थी । दिसम्बर १७९९ में राममोहन राय ने तो अपने हिस्से की अधिकांश जायदाद अपने एक विश्वस्त मित्र, बर्दवान के जमींदार राजीवलोचन राय को सौंप दी । रामकान्त जब बर्दवान की रानी के यहाँ काम करते थे, रानी के पुत्र राजा तेजचन्द ने उनके विरुद्ध मुकदमा कर दिया था, किन्तु रानी के विरोध पर वह उठा लिया गया । लेकिन रानी विष्णुकुमारी का निधन होते ही राजा तेजचन्द ने पुनः गबन का मुकदमा कर दिया और स्थिति यहाँ तक पहुँची कि

१७९९ में रामकान्त और उनके बड़े पुत्र को घर छोड़कर भागना पड़ा । पर कानून की पकड़ से बाहर कहाँ जाते ? मई १८०० में उन्हें जेल जाना पड़ा । साल भर बाद ही जगमोहन भी उन्हीं के पास बर्दवान जेल में पहुँच गए। १५ मास बाद रामकान्त को जेल से छुटकारा मिला, परन्तु सारी इज़्ज़त पर पानी फिर गया था ! जगमोहन को तो १८०५ के मार्च मास के मध्य तक सींकचों के भीतर दिन काटने पड़े । राममोहन राय ने उनके छुड़ाने के लिये १०००) कर्ज पर दिये, तब कहीं बर्दवान के राजा द्वारा किये गए समझौते पर वे छूटे । इधर दुर्दमनीय परिस्थितियों में उनके पिता तो मई १८०३ में ही चल बसे थे ।

पिता के निधन से राममोहन राय का परिवार से संबंध बिलकुल टूट ही गया । माता और पुत्र में—केवल उन्हीं दोनों के मध्य नहीं—कटुता उत्पन्न हो गयी थी, जो आगे बढ़ती ही गयी । राममोहन राय ने पिता का श्राद्ध संस्कार कलकत्ता में किया और उसमें परिवार का कोई व्यक्ति सम्मिलित न हुआ । लंगरपाड़ा में उनकी माता और सौतेले भाई रामलोचन राय ने श्राद्ध-कर्म किया, किन्तु राममोहन को आमंत्रित ही नहीं किया गया ।

इस बीच राममोहन राय ऐण्ड्रू रामसे के जरिये कम्पनी के शासन में किसी पद के लिए प्रयत्न करते रहे थे । उनके व्यक्तिगत जीवन में भी कई उलट-फेर हुए । उन्होंने तीसरा विवाह कर लिया । यह १७९७ और १७९९ के बीच की घटना है । उनकी द्वितीय पत्नी अभी तक निःसंतान थी । सन् १८०० के मध्य में उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई । जिसका नाम राधाप्रसाद रखा गया । विचित्रता यही है कि

यह पुत्र नयी पत्नी से नहीं, द्वितीय पत्नी से ही हुआ था। उनके जीवन की धारा भी बदल रही थी।

सरकारी कागजातों के आधार पर उनकी बंगला जीवनी के लेखक ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने बताया है कि राममोहन राय किसी-न-किसी रूप में १८००-१८०२ तक सदर दिवानी अदालत (सर्वोच्च न्यायालय, जिसकी स्थापना १७७३ में हुई थी।) और कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज (स्थापित १८०० ई०) से सम्बन्धित रहे थे तथा सर्वप्रथम उन्होंने ७ मार्च १८०३ को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी प्रारम्भ की। उन दिनों कम्पनी की नौकरी एक गौरव का विषय समझी जाती थी। वे उस समय ढाका जलालपुर (आजकल फरीदपुर) के कार्यवाही कलक्टर थॉम्स वुडफोर्ड के दीवान (रेवेन्यु ऑफिसर) थे। वुडफोर्ड के बीमार होकर चले जाने पर राममोहन भी १४ मई १८०३ को त्याग-पत्र देकर राधानगर चले गए। वुडफोर्ड स्वस्थ होकर मुर्शिदाबाद की कचहरी में रजिस्ट्रार नियुक्त हुए तो फरवरी १८०४ में राममोहन भी वहीं पहुँच गए। उसी वर्ष अगस्त में वुडफोर्ड के अपने देश लौट जाने पर राममोहन भी मुर्शिदाबाद से रामगढ़ पहुँचे।

जीवन-निर्माण की दृष्टि से अगले ५ वर्ष राममोहन राय के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे। उन्होंने जीवन में कई कड़ुए-मीठे अनुभव प्राप्त किये। उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आए—डिगबी, और दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना, एक-दूसरे को सहयोग दिया, एक-दूसरे को आगे बढ़ाया। यदि उन्हें डिगबी का साथ न मिलता तो बहुत संभव है कि राममोहन राय कम्पनी में कार्य करते-करते ऊँचे पद पर पहुँच जाते और १५० रु० मासिक तक (जो उस समय एक भारतीय

के लिए अधिकतम वेतन था।) वेतन भी पा जाते; परन्तु समाज के लिये वे अपने जीवन में जो कार्य कर सके, शायद ही कर पाते। नियति के रहस्य को कौन जानता है?

रामगढ़ उन दिनों बिहार के हजारीबाग जिले का प्रधान कार्यालय था और जॉन डिगबी वहाँ मजिस्ट्रेट के यहाँ रजिस्ट्रार थे। यही संभव है कि वुडफोर्ड ने स्वदेश लौटने से पूर्व राममोहन राय की सिफ़ारिश डिगबी से की हो और उन्हीं की भांति डिगबी ने मुन्शी के रूप में इन्हें रख लिया। वैसे डिगबी ने लिखा है कि उसके पूर्व भी वे फोर्ट विलियम कॉलेज में राममोहन से मिले थे। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अगस्त १८०५ से लेकर अगले दस वर्षों तक दोनों का साथ रहा और जब डिगबी का स्थानान्तरण जैसोर, भागलपुर, पुनः जैसोर तथा बाद में रंगपुर हुआ तो राममोहन राय को भी उन्होंने साथ ही रखा। जून १८०९ में वे कलक्टर बनकर रंगपुर आए थे। वह उन्हें अपना 'दीवान' बनाना चाहते थे तथा दिसम्बर १८०९ से अप्रेल १८१० तक वस्तुतः राममोहन राय ने उस पद पर काम भी किया; किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने डिगबी के बार-बार लिखने के बावजूद भी उन्हें स्थायी न किया।

इस कार्य के पीछे राममोहन राय के स्वाभिमान की गाथा छिपी है, जो १९२८ में देवप्रसाद सर्वाधिकारी द्वारा ११वें उत्तर-बंगाल बंगला साहित्यिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए प्रकट की गयी थी। डिगबी ने राममोहन राय को 'दीवान' के पद पर स्थायी बनाने के लिए रेवेन्यु बोर्ड से वह सिफ़ारिश की थी जो कोई भी अंग्रेज अधिकारी शायद ही करता। यहाँ

तक कि उन्होंने बोर्ड को आड़े हाथों भी लिया था। किन्तु बोर्ड के कार्यवाहक अध्यक्ष बूरिश क्रिस्प टस-से-मस न हुए। बात यह थी कि राममोहन राय ने १२ अप्रेल १८०९ को तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड मिण्टो को सर फ़्रेडरिक हेमिल्टन द्वारा किए गए दुर्व्यवहार की सूचना एक पत्र लिखकर भेजी थी। वह राममोहन का अंग्रेजी में लिखा गया प्रथम पत्र था। किन्तु उसने वाइसराय को भी हिला दिया! हेमिल्टन से जवाब मांगा गया तथा भविष्य के लिए चेतावनी भी दी गयी कि वह किसी भारतीय से अभद्र व्यवहार न करे। क्रिस्प और हेमिल्टन की मित्रता थी। फलतः राममोहन के लिए 'दीवानी' का दरवाजा तो बन्द हो गया किन्तु विशाल भारत के निर्माण का बन्द दरवाजा खुल गया। उन्हें भान हो गया कि जीवन में उन्हें 'दीवान' नहीं, कुछ और ही बनना है।

राममोहन राय की मृत्यु के कुछ दिन पश्चात् ही 'कोर्ट जर्नल' (Court Journal) में लिखते हुए माण्टगोमरी मार्टिन ने कहा था कि जॉन डिगबी के साथ काम करने से पूर्व राममोहन ने एक शर्त्त रखी थी कि अन्य अंग्रेज अधिकारियों के सामने जैसे अधीन भारतीय कर्मचारी सदैव खड़े रहते हैं—वह उन्हें मंजूर नहीं होगा। इसकी सत्यता में जाने की जरूरत नहीं, क्योंकि डिगबी का व्यवहार सदा ही मित्रतापूर्ण रहा और उन्होंने कभी यह नहीं समझा कि राममोहन राय उनके अधीनस्थ हैं। सच पूछिए तो राममोहन राय की प्रसुप्त चेतना को जागृत करने का श्रेय भी उन्हें ही है। जब एक अपरिचित नौजवान को आगे बढ़ने के लिए उत्साह की

आवश्यकता होती है, वही प्रेरणा और उत्साह उन्होंने राममोहन को दिया तथा कहा कि अपने ग्रंथों से पाश्चात्य जगत् को परिचित कराओ। बंगला और फारसी में ही पुस्तकें लिखने से काम न बनेगा, उपनिषदादि का अनुवाद अंग्रेजी में भी किया जाना चाहिए।

इंग्लैण्ड में डिगबी ने ही राममोहन राय की कृति 'वेदान्त-सार' (Abridgement of the Vedant) का प्रकाशन कराया था तथा उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि पहले-पहल (१८०५) जब राममोहन राय मेरे सम्पर्क में आए तब वे अंग्रेजी में बातचीत तो कर सकते थे, किन्तु अपने विचारों को शुद्ध ढंग से लिखकर अभिव्यक्त नहीं कर सकते थे। कुमारी सोफिया डॉब्सन कोल्लेट ने तो राममोहन राय की जीवनी में लिखा है कि २२ वर्ष की आयु में उन्होंने अंग्रेजी सीखना शुरु किया था। डिगबी के सम्पर्क के कारण ही उसमें विकास हुआ। एक दिन वह भी आया जब उनका अंग्रेजी भाषा पर पूरा अधिकार हो गया था। और "कलकत्ता जर्नल" के सम्पादक जेम्स सिल्क बकिंघम ने ४ अगस्त १९२३ को लिखा—

> "...एशियायी किसी भी व्यक्ति को मैंने ऐसी विशुद्ध अंग्रेजी बोलते नहीं सुना और शब्दों का उनका चयन ऐसा था कि जैसा कोई अंग्रेज ही कर सकता है। उनसे मेरा वार्तालाप एक घण्टे तक तो अरबी में ही होता रहा— जोकि मैं जानता था और मुझे पता नहीं था कि वे इतनी सुन्दर अंग्रेजी बोल लेते हैं।"*

---

*Letter addressed to the Editor of *the Monthly Repository of Theology and General Literature* (London) on Aug., 4, 1823. "In June 1818, I was

'सरिश्तेदार' और 'दीवान' के पद पर कार्य करने के बाद भी रेवेन्यु बोर्ड के रवैये ने उन्हें उदास नहीं किया। सरकारी नौकरी छूट ही गयी थी। ज्योतिर्मय दासगुप्त ने लिखा है—(मॉडर्न रिव्यु, सित० १९२८) कि 'रंगपुर में राममोहन राय ने कचहरी से चार मील दूर महीगंज के निकट अपना मकान भी बनवा लिया था। वहाँ के न्यायालय के समीप आज भी जो बड़ा एवं पक्का तालाब है, वह उन्हीं के द्वारा अपने व्यय से निर्मित कराया गया था। फारसी के वे विद्वान् तो थे ही, रंगपुर में उनकी ख्याति एक मौलवी के नाते भी हो गयी।' सहसा रंगपुर छोड़ना राममोहन राय को पसन्द न आया। अप्रेल में में वे 'दीवान' के पद से मुक्त हुए थे और उसी वर्ष (१८१०) अगस्त में डिगबी ने उनको रंगपुर के अंतर्गत उदासी परगने के स्वर्गीय राजकिशोर चौधरी की जायदाद का संरक्षक नियुक्त कर दिया। उनके बालक मार्च १८१५ में वयस्क हुए और तब तक राममोहन राय रंगपुर में ही रहे। उसके बाद उनका विस्तृत कार्य-क्षेत्र कलकत्ता ही बना।

"आत्मीय सभा" की स्थापना

रंगपुर में राममोहन राय के निवास का समय उनके जीवन का 'विकास-काल' भी कहा जा सकता है। जब ईस्ट इण्डिया

---

introduced to Rammohan Roy......was surprised at the unparalleled accuracy of his language, never having before heard any foreigner of Asiatic birth speak so well, and esteeming his fine choice of words as worthy the imitation even of Englishmen."

कम्पनी की सेवा से वे पृथक् हुए उनकी आयु ३७ वर्ष थी। जीवन में कुछ कर दिखाने का मार्ग उनके लिये खुला था। रंगपुर छोड़ने का प्रश्न भी उठता नहीं था। कलकत्ता में उनका कारोबार चल ही रहा था और तब तक उसका प्रसार रंगपुर में भी हो चुका था तथा वहाँ अपनी सहायता के लिए उन्होंने भवानी घोष नामक व्यक्ति को भी हिसाब-किताब की व्यवस्था के लिए रखा हुआ था। यह उनके जीवन का प्रधान मोड़ था। डिगबी के साथ उनकी घनिष्ठता बढ़ती ही गयी। यद्यपि यह सच है कि रंगपुर में उनके बहुत से मारवाड़ी मित्र भी थे, परन्तु प्रधानतः डिगबी के कारण ही वे वहाँ रुके। १८१५ में ही डिगबी कम्पनी की सेवा से त्याग-पत्र देकर स्वदेश लौट गए।

रंगपुर में रहते हुए ही राममोहन राय के निवास-स्थान पर कुछ लोग एकत्र हुआ करते तथा सत्संग लगता। ऐसे अवसरों पर वे धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर विचार-विमर्श किया करते और उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा करता था कि हिन्दू-समाज के ढांचें में कैसा और क्या परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे कि तत्कालीन स्थिति में सुधार हो। रंगपुर उन दिनों में भी अच्छी-खासी बस्ती थी तथा मारवाड़ से गए हुए व्यापारियों में अधिकांश जैनी थे। शाम के समय राममोहन राय के मकान पर बैठकें हुआ करतीं। उनमें कुछेक जैनी लोग भी सम्मिलित होते। उन्हीं के सम्पर्क से राममोहन राय ने जैन-दर्शन का भी अध्ययन किया तथा 'कल्प सूत्र' एवं अन्यान्य ग्रंथों का पारायण किया। रंगपुर में ही उनकी अभिरुचि यूरोपीय राजनीति में हुई और फ्रांस की राज्यक्रांति के बारे में वे ध्यान से पढ़ा करते। अंग्रेजी का तो

पर्याप्त ज्ञान उन्हें था ही, अंग्रेजी और बंगला भाषाओं के समाचार-पत्रों के वे नियमित पाठक बन गए थे।

डिगबी के कारण राममोहन राय के मन में समुद्रपार की—विशेषत: ब्रिटिश द्वीपों की यात्रा की भावना प्रबल हो उठी थी। इसलिए भी वे रंगपुर से कलकत्ता जाना चाहते थे। परन्तु किसे पता था कि अगले सोलह साल उन्हें कलकत्ते में ही बिताने थे और वही कलकत्ता उनकी प्रधान प्रवृत्तियों एवं अभिरुचियों का प्रमुख केन्द्र बनने वाला था। जब वे कलकत्ता आये, ४३ वर्ष के होते हुए भी उनमें उत्साह की मात्रा पर्याप्त थी। उस समय तक उनमें विचारों की प्रौढता ने स्थान पा लिया था; वे वेदान्त विषयक साहित्य का बंगला और अंग्रेजी में रूपान्तर भी कर चुके थे। कलकत्ता उनके लिए नया नहीं था। वे पहले भी कितनी ही बार वहाँ जा चुके थे। वैसे पुराना आवरण त्याग कर कलकत्ता अब नए रूप में सुशोभित था। यह वह कलकत्ता था, जहाँ १७०० में महाभयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था और देशीय जनता की कौन कहे, यूरोपीय लोगों की बस्ती में भी प्रति दिन सड़कों पर मुर्दों का ढेर लगा रहता तथा उन्हें हुगली में बहाने के लिए शासन द्वारा अतिरिक्त श्रमिक लगाने पड़े थे! १७८८ में भी विनाशकारी अकाल का आक्रमण हुआ और समय-समय पर पुनरावृत्ति होती रही। किन्तु १८१५ में स्थिति बहुत बदल चुकी थी। बंगाली मध्य-वर्गीय समाज भी अधिकाधिक बुद्धिजीवी होता चला जा रहा था।

जोड़ा साकूँ में राममोहन राय को पैतृक सम्पत्ति में एक मकान मिला था और कभी-कदास आकर रहने तथा व्यापार के लिए तो वह स्थान ठीक था; किन्तु नयी योजना के

अनुरूप वह न था। इसीलिए उसे बेचकर कलकत्ते में दो नए मकान—एक तो चौरंघी में (जो आजकल ११३, अपर सरक्यूलर रोड है।) और दूसरा शिमला कही जाने वाली बस्ती में (जो अब ८५, एम्हर्स्ट स्ट्रीट पर है।) खरीदा। पहले के लिए उन्हें २०,३१७) तथा दूसरे के लिए १३,०००) देने पड़े। दूसरा मकान उन्होंने पारिवारिक जनों के लिए खरीदा था, जिससे कि पुराने और नये विचारों का संघर्ष न हो। चौरंघी या माणिकटोला का मकान उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के सभी साधनों को जुटाकर अपने लिये रखा था, जहाँ सार्वजनिक व्यक्तियों से मेल-जोल भी हो सके। फेन्नी पारकेस ने, जो सौन्दर्य की खोज में पूर्व के देशों में २४ वर्ष तक भ्रमण करती रही थीं, लिखा है : "राममोहन राय का कलकत्ता-स्थित मकान बहुत ही सुन्दरता से सज्जित था, सब कुछ यूरोपीय शैली पर था, सिवाय मालिक मकान के.....।"

कलकत्ता आकर राममोहन राय ने रंगपुर वाला प्रयोग फिर से आरम्भ किया। लोग— एक जैसी विचारधारा वाले, वहाँ उसी भाँति एकत्र होने लगे। उस सत्संग या समूह को उन्होंने "आत्मीय सभा" अर्थात् 'मित्रों की संस्था' का नाम दिया। यह १८१५ की ही बात है और उनके माणिकटोला स्थित मकान में ही प्रति सप्ताह बैठकें होने लगीं। कलकत्ता के प्रमुख हिन्दू परिवारों में जागृति की एक लहर फैल चुकी थी और उनकी यह धारणा बन गयी थी कि बदलती हुई दुनिया में — जब कि हर चीज तेजी के साथ बदल रही थी,

हिन्दू धर्म भी अपरिवर्तित नहीं रह सकता । राममोहन के आगमन के पूर्व ऐसे व्यक्ति संगठित न थे । उनके व्यक्तित्व ने गोपीमोहन टैगोर, वृन्दावन मित्र, व्रजमोहन मज़ूमदार, नीलरतन हालदार, ताराचन्द चक्रवर्ती, रामगोपाल घोष और युवक द्वारकानाथ ठाकुर (महाकवि रवीन्द्रनाथ के पितामह) आदि सम्भ्रान्त व्यक्तियों को आकृष्ट किया तथा उनका वह प्रयोग प्रारम्भ से ही सफलता के सोपान पर चढ़ चला ।

होली के पर्व पर 'आत्मीय सभा' का उद्घाटन उत्सव मनाया गया, जिससे कि अधिक से अधिक लोग यह समझ सकें कि पर्वों के बाह्याडम्बरों ने उनके स्वरूप को कितना कलुषित कर डाला है । 'आत्मीय सभा' के उस उत्सव की सादगी, संजीदगी और संचालन की सरलता से सबको संतोष हुआ तथा अनेकानेक लोग उससे प्रभावित हुए । राममोहन राय के व्यवसाय के पुराने साथी नन्दकुमार विद्यालंकार, जो अब 'हरिहरानन्द तीर्थस्वामी' के नाम से प्रख्यात हो चुके थे, भी रंगपुर से कलकत्ता आ गए थे । वे भी संस्कृत और फारसी के प्रकाण्ड पण्डित थे ।

'आत्मीय सभा' में राममोहन राय सब को फारसी ढंग पर "बिरादर" (बन्धुओ) कहकर संबोधित करते थे । उनकी शैली इतनी सुरुचिपूर्ण होती थी कि विरोधी विचारधारा वाले भी उनके मत का समर्थन करने लगते थे । एक प्रसिद्ध घटना है कि एक दिन रामचन्द्र विद्यावागीश पूजा के लिए राममोहन के उद्यान से फूल तोड़ रहे थे और तब वे इतने प्रसिद्ध न थे । राममोहन राय ने प्रश्न किया—"कौन, आपके मत से, इन फूलों से पूजित होता है ?" इसी बात पर बहस छिड़ गयी और कहा जाता है कि यह दिनभर चलती रही, बीच में

भोजन के लिए भी कोई न रुका। अन्त में रामचन्द्र राममोहन के विचारों के समर्थक हो गए। रामचन्द्र विद्यावागीश हरिहरानन्द तीर्थस्वामी के छोटे भाई तो थे ही, संस्कृतज्ञ भी थे और उन्होंने बंगाली शब्दकोष का निर्माण भी किया था। आगे जाकर वे 'ब्राह्म-समाज' के अध्यक्ष भी बने।

'आत्मीय सभा' में सम्मिलित होने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। एक दिन डेविड हेर नामक व्यक्ति उसमें उपस्थित हुए और फिर तो वे जीवनपर्यन्त राममोहन राय के हो गए। उनका पूरा परिवार ही इनसे सम्बद्ध हो गया। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में वे कलकत्ता आकर बसे थे और घड़ीसाजी का उनका व्यवसाय था। १८१६ तक उन्होंने इतनी सम्पदा अर्जित कर ली थी कि वे अवकाश लेकर सुखपूर्वक रह सकते थे। सचमुच, उन्होंने अपने व्यवसाय को बेच डाला और भारतीय शिक्षा के प्रेमी के नाते राममोहन के पीछे लग गए। उन्हीं के प्रयत्न से १४ मई १८१६ को सर्वोच्च न्यायाधीश के यहाँ एक समिति बनी, ५० हजार रुपया एकत्र हुआ और बड़े-बड़े पण्डित तथा प्रतिष्ठित हिन्दू उसमें सम्मिलित हुए तथा २० जनवरी १८१७ को स्कूल भी खुल गया; जो कालान्तर में हिन्दू कॉलेज में विलीन हो गया और आज कलकत्ता का प्रख्यात 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' है।

'आत्मीय सभा' की बैठकें न तो पूर्णतः सार्वजनिक ही थीं और न घरेलू ही। उनका उद्देश्य कदापि यह नहीं था कि किसी सम्प्रदाय की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचाएं। सभा का रूप वैसे धार्मिक ही रखा गया था और साप्ताहिक सत्संग में शिवप्रसाद मिश्र नामक एक ब्राह्मण वैदिक ग्रंथों का पाठ किया करते तथा एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों का ही

प्रतिपादन करते। ईश्वर की महिमा का गान होता तथा प्रार्थनाएं भी की जातीं। गुलाम अब्बास (जिसका कोई 'गोविन्द माल' नाम भी बतलाते हैं।) का वहाँ मधुर संगीत भी सम्पन्न होता। वे ही राममोहन राय तथा उनके मित्रों द्वारा बनाये गए स्तोत्रों का भी गायन किया करते थे।

प्रथम दो वर्ष तक 'आत्मीय सभा' की नियमित साप्ताहिक बैठकें राममोहन राय के माणिकटोला स्थित मकान में लगती रहीं। फिर ये उनके शिमला मोहल्ले वाले मकान में ही लगतीं। उसके बाद बड़ा बाजार में बिहारीलाल चौबे के मकान में इसकी बैठकें हुआ करतीं। वहीं १८१९ में राममोहन राय तथा मद्रास के ब्राह्मण सुब्रह्मण्य शास्त्री के मध्य मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ भी हुआ। कहा जाता है कि उसमें राममोहन ने अपने विचारों को स्पष्टतः प्रकट कर दिया था। राममोहन राय के मित्रों में मुसलमान भी थे और ईसाई भी। रंगपुर की भांति कलकत्ता में भी कुछ कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने उनका विरोध शुरु कर दिया था।

डेविड हेर की चर्चा की जा चुकी है। उनके 'इंग्लिश स्कूल' स्थापित करने के विचार से 'आत्मीय सभा' के अधिकांश सदस्य सहमत नहीं थे, परन्तु राममोहन राय उनके साथ रहे। दोनों ने ही घूम-घूम कर वातावरण तैयार किया तथा सर्वोच्च न्यायाधीश सर ऐडवर्ड हाइड ईस्ट के पास पहुंचे। जब स्कूल के लिए ८ यूरोपीय और २३ भारतीयों की एक समिति का निर्माण हुआ तो एक कट्टरपंथी ने उस सूची में राममोहन राय का नाम सम्मिलित किये जाने का विरोध किया। उसका विश्वास था कि राममोहन मुसलमान मित्रों से घिरा रहता है तथा उनके साथ खाता-पीता भी है! अतः

धर्मभ्रष्ट हो चुका है तथा मूर्ति-पूजा का विरोध करके हमारे धर्म का विरोधी बन चुका है। हेर तो राममोहन राय का मित्र ही था। सारी परिस्थिति को समझ कर राममोहन ने ही कहा—"यदि मेरा नाम समिति में रखने से दूसरों का सहयोग नहीं मिलता तो खुशी से मेरा नाम हटा दो।"

२० जून १८१७ को जब कलकत्ता के प्रमुख हिन्दू नागरिकों, सर ऐडवर्ड हाइड ईस्ट, जे० एच० हेरिंग्टन तथा डेविड हेर की उपस्थिति में स्कूल का उद्घाटन हुआ तो समिति के एक मंत्री— बुद्धिनाथ मुखर्जी ने यही कहा था— "यह पौदा एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण करेगा...... उसकी ठण्डी और ताजी हवा का आनन्द वे ले सकेंगे, जो उसकी छाया तले बैठेंगे।" सब ने उस कार्य की प्रशंसा की। किसी भी व्यक्ति के मुख से उसका नाम भी न निकला, जिसने यदि प्रारम्भ में कुछ न किया होता तो वह पौदा पथरीली भूमि में कभी का मुर्झा कर, जल जाता! राममोहन राय की विशालहृदयता और कर्मठता का प्रतीक है यह, जीवन का एक ज्वलन्त उदाहरण।

ईसाइयों से सम्पर्क तथा उनका विरोध

कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने डट कर राममोहन राय को उखाड़ने की चेष्टा की। 'आत्मीय सभा' की बैठकें प्रारम्भ में प्रायः उन्हीं के निवास-स्थान पर होती थीं और उनमें पूजा एवं प्रार्थना की परम्परागत शैली तो थी नहीं। राममोहन राय के स्पष्ट

विचारों के कारण और एक ही परमेश्वर की उपासना के कारण मुसलमानों के साथ उनके अविच्छिन्न संबन्ध हो गए तथा उन्हें कुछ लोगों ने तो "जबरदस्त मौलवी" का खिताब ही दे डाला !

रंगपुर में रहते हुए राममोहन ने हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य कर डाला था। कलकत्ता आने के बाद १८१५ में ही "वेदान्त सूत्र" का बंगला अनुवाद प्रकाश में आया। उधर १८१६ में ही, उसका अंग्रेजी अनुवाद भी 'An Abridgement of the Vedant' शीर्षक से प्रकाशित हो गया। उसके तत्काल बाद ही, उसी वर्ष केनोपनिषद् और ईशोपनिषद् के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाश में आए। ये अनुवाद राममोहन राय द्वारा अपने व्यय से छपवाये गए थे और देशवासियों में अधिकाधिक प्रचार-प्रसार के लिए मुफ़्त वितरण की व्यवस्था उन्होंने रखी थी।

मैक्स मूलर ने अपनी एक पुस्तक (Biographical Essays) में लिखा है : "वस्तुतः वेदों की मूल प्रति भारत के पुस्तकालयों में सुरक्षित रखी थी, किन्तु धार्मिक रूप से इनका कठोर संरक्षण था। बहुत काल बाद जब प्रोफेसर विलसन ने अकस्मात् ही किसी वैदिक प्रतिलिपि को एक देशीय पुस्तका-लय में छू दिया तो, जैसा कि उन्होंने मुझे बतलाया, जनता मारने के लिए दौड़ी और उन्हें बुरा-भला कहा गया।" असल में ब्राह्मणों ने धार्मिक ज्ञान-दान को अपना 'कापी राइट' समझ लिया था और वे नहीं चाहते थे कि धर्मशास्त्रों का किसी भी भाषा में अनुवाद हो। मूर्त्तिपूजा के खण्डन के साथ-साथ निहित स्वार्थों पर चोट ने उन्हें राममोहन की विरोधी पंक्ति में खड़ा कर दिया था।

मूर्त्ति-पूजा के खण्डनकर्त्ताओं में ईसाई मिशनरियों का नाम भी आता है और १८वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में, कलकत्ता के समीप—डेन्मार्क निवासियों की बस्ती श्रीरामपुर (Serampur) में दो प्रख्यात पादरियों (विलियम केरी और जोशुआ मार्शमेन) ने 'बेप्टिस्ट मिशन' की स्थापना की थी। अपने कार्य के प्रारम्भिक काल में राममोहन राय को अनेक यूरोपीय व्यक्तियों से प्रोत्साहन मिला था और उनमें ये भी थे। जॉन डिगबी के सम्पर्क के कारण ईसाई धर्म के बारे में राममोहन राय पहले ही जान चुके थे। मानव-संसार के सभी धर्मों की आन्तरिक एकता के स्थापन के लिए अपने विचारानुकूल वे अधिकाधिक सामग्री-साक्षी एकत्र करना चाहते थे और इसीलिए वे मिशनरियों के अधिक निकट जा पहुंचे। कलकत्ता पहुँच कर उन्होंने हिब्रू, ग्रीक और लेटिन भाषाएँ भी सीख ली थीं।

अक्तूबर की २५ तारीख थी। १८१५ की ही बात है। उस दिन श्रीरामपुर के नवयुवक पादरी विलियम येट्स से उनकी भेंट हुई। येट्स उनसे बहुत प्रभावित हुआ और प्रायः उनसे मिला करता। येट्स के निमंत्रण पर ही राममोहन श्रीरामपुर गए, जहाँ पादरियों द्वारा भारत के सर्वोत्तम मुद्रणालयों में एक वहाँ स्थापित था। येट्स ने ही उनकी भेंट केरी तथा मार्शमेन से करायी। केरी ने "वाट की स्तुतियाँ" नामक पुस्तक प्रदान की, जिसके लिए कहा जाता है कि राममोहन राय ने उसे एक अमूल्य खजाने की भांति आजीवन संजोए रखा। बेप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी की १८१६ की रिपोर्ट में राममोहन राय का परिचय देते हुए, भूरि-भूरि प्रशंसा भी की गयी थी। सहयोग का यह आदान-प्रदान पाँच वर्षों तक चलता रहा।

राममोहन राय तो सुधारवादी प्रवृत्ति को लेकर आगे बढ़ रहे थे; संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से परे हट कर वे अपने विचारों से जनता को अवगत किया चाहते थे। धर्म के सही स्वरूप को प्रकट करना ही उनका मुख्य मन्तव्य था। अपने मार्ग से जरा भी विचलित होना उन्हें सह्य क्योंकर होता? केरी तथा मार्शमेन चतुर मछुओं की भांति उन्हें अपने जाल में फँसाना चाहते थे। परन्तु वह कैसे सम्भव होता? राममोहन राय ने देखा कि पुराणपंथी हिन्दुओं में ही नहीं, ईसाइयों में भी मौजूद हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रारम्भ से नीति यही रही कि पादरियों को प्रोत्साहन न दिया जाए, क्योंकि इसमें भारत की जनता में धार्मिक विद्वेष फैलकर, विदेशी शासन के विरुद्ध बगावत के बीज छिपे थे। इसी लिए श्रीरामपुर के मिशन का भी कम्पनी के क्षेत्रों में अच्छा स्वागत न था। १८०८ के एंग्लो-डेनिश युद्ध के पूर्व तक श्रीरामपुर पूरी तरह डेन्मार्क-वासियों के अधीन था और केरी ने संभवतः इसीलिए वह स्थान चुना भी था। लॉर्ड मिण्टो ने मिशनरी साहित्य पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और बेप्टिस्ट मिशन को भी प्रकाशन से पूर्व अपना साहित्य फोर्ट विलियम के अधिकारियों को दिखलाना पड़ता था। डा० जोशुआ मार्शमेन ने तो १८१३ में, 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापन और विस्तार में ईसाइयत से लाभ' शीर्षक एक पुस्तिका भी लिखी थी। परन्तु ऐसे सभी उपायों से कोई लाभ नहीं हुआ और वे राममोहन राय के प्रभाव का अनुचित लाभ लेना चाहते थे।

राममोहन राय के बारे में 'चर्च ऑव इंग्लैण्ड' के "मिशनरी रजिस्टर" (सितम्बर १८१६) में काफी लम्बी-चौड़ी

सामग्री निकली तथा उन्हें ईसाई तक बतलाया गया! राममोहन मिशनरियों की पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि भी लिखने लगे थे। इंग्लैण्ड में उनके नाम की ख्याति १८१७ में, जॉन डिगबी द्वारा उनके ग्रंथ 'वेदान्त सार' और 'केनोपनिषद्' के प्रकाशन से, अधिक फैल गयी। फ्रांस में अब्बे ग्रिगोयर (Abbé Gregoire) ने तो उनके बारे में पूरी पुस्तक ही लिख डाली जो बाद में 'Chronique Religieuse' में छपी। १८१८ से ही अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में राममोहन राय की पुस्तकों से संदर्भ उद्धृत होने लगे। कुमारी एड्रीना मूर ने अमेरिका में उनका प्रचार किया और कुछ काल उपरान्त अमेरिका के पूर्वी तट की दुकानों में राममोहन राय के ग्रंथों के अमेरिकी संस्करण भी बिकने प्रारम्भ हो गए। बहुत-से लोगों ने जब तक कलकत्ता में उनका नाम भी नहीं सुना था, राममोहन राय ने अन्तरराष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी और बुद्धिवादी-जगत् में वे अपनी विद्वत्ता, धार्मिक प्रवृत्ति और समाज-सुधारक के नाते प्रख्यात हो चुके थे। लेफ्टि०कर्नल फिट्जक्लेरेंस (बाद में—'अर्ल ऑव मुंस्टेर') ने भी अपनी एक कृति (Journal of a Route across India through Egypt to England in the Year 1817-18) में राममोहन का बहुत सुन्दर शब्द-चित्रण किया था।

१८२० में राममोहन राय ने ईसाई कट्टरपंथी पर प्रबल प्रहार किया। उस वर्ष उनकी पुस्तक–'यीशु का आदर्श : सुख एवं शान्ति का पथ-दर्शक' (The Precepts of Jesus, the Guide to Peace and Happiness) प्रकाशित हुई और उसने उनके मित्र एवं शत्रु, दोनों को, आश्चर्य में डाल दिया। मजा तो यह कि वह कृति मिशन के कलकत्ता मुद्रणालय में

ही छपी ! राममोहन का विश्वास था कि उसके प्रकाशन से ब्राह्मणवर्ग ही चिढ़ेगा और कहेगा कि 'अब वह मुसलमान नहीं ईसाई बनने जा रहा है !' इसके विपरीत उसकी आलोचना ईसाई मिशनरियों की ओर से ही हुई और फरवरी १८२० में जब मार्शमेन द्वारा प्रकाशित मासिक 'फ्रेण्ड ऑव इण्डिया' में उसकी समीक्षा छपी, राममोहन राय को उजड्ड आदि कहा गया तथा बीभत्स भाषा का प्रयोग किया गया था।

बेप्टिस्ट मिशनरियों ने अपने मुद्रणालय में वह पुस्तक क्यों छपने दी ? यह प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है। कुछ समय पूर्व, राममोहन राय के वेदान्त सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़कर एक पादरी स्मिथ (Rev. Deocar Schmidt) बहुत प्रसन्न हुए और यहाँ तक कि उन्होंने "इस असाधारण व्यक्ति से पत्र-व्यवहार की अभिरुचि भी प्रकट की" तथा अप्रेल १८१९ में राममोहन को उन्होंने पत्र भेजा। अगस्त १८१९ के "फ्रेण्ड ऑव इण्डिया" में उस पत्र पर टिप्पणी भी निकली और स्मिथ के इस मत का समर्थन किया गया कि राममोहन राय को ईसाई धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए। मिशनरियों का विश्वास था कि उक्त पुस्तक के प्रकाशित होते ही वे कठोर आलोचना करके उसकी बिक्री एवं प्रसार बन्द कर देंगे। उससे हुआ उलटा। प्रचार बढ़ गया और फलस्वरूप ईसाई धर्म की कट्टरवादिता को लेकर राममोहन राय को 'अपीलों के रूप में' तीन अन्य पुस्तकें लिखनी पड़ीं।

'प्रिसेप्ट ऑव जीसस' की समीक्षा छप जाने के तुरन्त बाद ही राममोहन राय ने 'Appeal to the Christian Public' लिख डाली, जो लगभग २० पृष्ठों का निबन्ध था और 'उजड्ड

तथा जंगली' शब्दों के व्यवहार के पीछे मिशनरियों की अनुदारता एवं उद्दण्डता का उल्लेख करते हुए उन्होंने असत्य का पर्दाफाश किया था। उसका उत्तर डा. जोशुआ मार्शमेन ने मई १८२० में अपने पत्र में दिया तथा एक अन्य सज्जन द्वारा 'फ्रेण्ड ऑव इण्डिया' (त्रैमासिक संस्करण) के सितम्बर १८२० के अङ्क में ३२ पृष्ठों का स्पष्टीकरण दिया गया। उनके उत्तर में राममोहन ने बृहत् पुस्तकाकार 'दूसरी अपील' छपवायी, जो १८२१ में छपी थी। 'कलकत्ता जर्नल' में उसकी अच्छी चर्चा भी हुई। उस पुस्तक में बेप्टिस्ट जर्नल के १२८ पृष्ठों की सामग्री थी! दो साल तक ईसाई धर्म-शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके राममोहन राय ने उन लोगों का मुँह बन्द करने के लिए ४०० पृष्ठों की पुस्तक (Final Appeal to the Christian Public) लिखी, जो १८२३ के प्रारम्भ में प्रकाशित हो चुकी थी। हिम्मत हार देना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था।

एकेश्वरवाद का समर्थन

राममोहन राय मूर्त्ति-पूजा के घोर विरोधी थे। पीछे लिख ही चुके हैं कि उन्होंने १८१६ में ईशोपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद छपवाया था। उसके मुख-पृष्ठ पर लिखा है—

> "ईशोपनिषद् से प्रतिपादित होता है कि पर-ब्रह्म एक और अज्ञेय है और *केवल उसी की उपासना* से नित्य आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।"

मद्रास के एक शंकरशास्त्री नामक पण्डित ने राममोहन पर कुछ आक्षेप किये और मूर्त्ति-पूजा को शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने का प्रयास किया तो उन्होंने 'ए डिफेंस ऑव हिन्दू थीइज्म' में उसका उत्तर दिया। दूसरी बार, गवर्नमेंट कॉलेज (कलकत्ता) के पण्डित मृत्युञ्जय विद्यालंकार ने 'वेदान्त चन्द्रिका' नामक पुस्तक प्रकाशित की तो उसका भी उत्तर—मूर्त्ति-पूजा का तीव्र खण्डन करते हुए एक पुस्तक लिख कर ही उन्होंने दिया।

ऐसे थे वे दृढ विचारक। इसी कारण हिन्दू-कठमुल्लों ने उनका विरोध किया और क्योंकि वे हजरत ईसा को, ईसाइयों की सामान्य धारणा के अनुसार, ईश्वर का पुत्र न मान कर, एक मनुष्य का पुत्र मानते थे—ईसाई भी उनसे रुष्ट हो चले।

मूर्त्ति-खण्डन से उनका तात्पर्य क्या था, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

> "सब शास्त्रार्थों में मेरा पक्ष यही रहा कि मैं हिन्दू धर्म का विरोधी नहीं, किन्तु हिन्दू *धर्म के बिगड़े हुए रूप* का विरोधी हूँ। मैंने यही दर्शाने की कोशिश की है कि ब्राह्मण आज-कल जिस मूर्त्ति-पूजा को मानते हैं वह उनके पूर्वजों की प्रथा के प्रतिकूल है तथा उन प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रों के भी जिनके आदर करने एवं मानने का दावा वे करते हैं।"

राममोहन राय ने अपने ईशोपनिषद् के अनुवाद की भूमिका में स्पष्टतः लिखा भी है :

> "परम विद्वान् व्यास ने अपने 'वेदान्त' ग्रन्थ में यही प्रतिपादित किया है कि वेद की सब श्रुति एक स्वर से

उसी परम पुरुष के देवत्व को सिद्ध करती हैं जो बुद्धि की पहुँच से परे और वाणी के व्यापार से उस पार है।......
उन ग्रन्थों से प्रकट है कि जगत् का नियन्ता केवल एक है। जो सर्वव्यापक और हमारी समझने की शक्तियों से बहुत परे है। जो वाह्य इन्द्रियों से अगोचर है और जिसकी पूजा मनुष्य जाति का परम कर्त्तव्य तथा नित्य आनन्द का एक मात्र कारण है और जो कुछ रूप तथा नाम है, वह कल्पना है।"

राममोहन राय के विचारों ने अनेकानेक हिन्दुओं को ही नहीं, कट्टर ईसाइयों तक को हिला दिया और अपना अनुवर्ती बना लिया। श्रीरामपुर के बेप्टिस्ट मिशन की गाथा का उल्लेख हो ही चुका है। इंग्लैण्ड से उनके मिशन में विलियम एडम नामक एक युवा पादरी आए हुए थे। विलियम येट्स के कारण उनका भी परिचय राममोहन से हुआ और तीनों ने नयी बाइबल (न्यू टेस्टामेंट) के नये अनुवाद की योजना बनायी। डा० केरी और एल्लरटन दोनों के ही—बंगला अनुवाद इतने अच्छे नहीं थे। इसी लिए ११ जून १८२१ को एडम ने नये अनुवाद की स्वीकृति प्राप्त की थी।

अनुवाद में चौथी गोष्ठी पर गाड़ी रुक गयी। उस समय तक राममोहन राय की "ईसाइयों के नाम दूसरी अपील" छप चुकी थी। गाड़ी रुकने का कारण यही था कि राममोहन ने ईसा मसीह की नैतिक शिक्षा को तो स्वीकार किया, परन्तु उनके देवत्व को मानने से इन्कार कर दिया। ईसाइयों के त्रैतवाद से वे सहमत न थे। उनके विचारों का एडम पर बहुत प्रभाव पड़ा और वे भी उनके एकेश्वरवाद के रंग में रंगे गए। येट्स तो पहले ही पृथक् हो गए थे। एडम के धर्म-

परिवर्तन को लेकर तो तहलका ही मच गया। कलकत्ता के बिशप ने इंग्लैण्ड में अटार्नी-जनरल को लिखा कि क्यों न एडम को भारत में रहने से कानूनन मना किया जाए ? परन्तु वे दिन लद चुके थे ! एडम यहीं रहे; किन्तु मिशनरियों का रोष बढ़ता ही गया।

ईसाई कट्टरपंथियों ने राममोहन राय पर आलोचना की बौछार ही कर दी। श्रीरामपुर के मिशनरियों ने 'फ्रेण्ड ऑव इण्डिया' के बाद, अपने बंगला-पत्र "समाचार दर्पण" को उनके विरुद्ध प्रचार का साधन बनाया। राममोहन राय की 'द्वितीय अपील' के प्रकाशन और एडम की घोषणा के बाद ही साप्ताहिक 'समाचार दर्पण' के १४ जुलाई १८२१ के अङ्क में वैदिक धर्म और दर्शन की मर्मान्तक आलोचना का एक पत्र छपा। उसमें यह भी निर्देश था कि जो कोई उसका उत्तर देगा, उक्त पत्र में प्रकाशित किया जाएगा। लेकिन जब राममोहन ने 'पंडित शिवप्रसाद शर्मा' के नाम से प्रत्युत्तर में "वेदान्त शास्त्र" का करारा जवाब भेजा तो 'समाचार दर्पण' ने अपना वायदा भुला कर लेख वापस कर दिया !

राममोहन राय को हिन्दू धर्म, हिन्दू शास्त्र तथा हिन्दू जाति से प्रगाढ प्रेम था। वे ऐसे आक्रमणों को कैसे सहन कर सकते थे ? लेख लौटा कर उनका वार खाली जाने देने के प्रयत्न विरोधी पक्ष ने किये थे। उन्होंने साहस से काम लिया और अपनी ही पत्रिका 'ब्राह्मनीकल मैगजीन' (The Brahmunical Magazine) का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। १८२१ के उत्तरार्द्ध में उक्त पत्रिका के तीन अङ्क निकले। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—यह धार्मिक और दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन के लिए निकाली गयी थी। आज से

१४० वर्ष पूर्व पत्रिका का प्रकाशन उनके अगाध साहस का द्योतक तो है ही, पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनका उच्च स्थान निर्धारित हो चुका है।

उनकी लौह लेखनी से लिखे गए, उस पत्रिका के सम्पादकीय, न केवल उनकी सुधारक वृत्ति पर प्रकाश डालते हैं, प्रत्युत उनकी प्रगाढ देश-भक्ति के भी समुज्ज्वल उदाहरण हैं। उन्होंने हिन्दू शास्त्रों पर किये गए आक्षेपों का उत्तर तो दिया ही, ईसाई मिशनरियों द्वारा अपनाये गए हथकण्डों की पोल भी खोली। पत्रिका के प्रथम अङ्क में ही, भूमिका में लिखते हुए उन्होंने कहा कि यदि अंगरेज लोग टर्की, ईरान आदि में, जो उनके देश से अपेक्षाकृत निकट भी हैं और जहाँ उनका राज्य नहीं है, ईसाई धर्म का प्रचार करते तो उनका जोश आदरणीय समझा जा सकता था, परन्तु—

"बंगाल में जहाँ अंगरेजों का सर्वाधिपत्य है और जहाँ अंगरेज का नाम ही मनुष्यों को डराने के लिये पर्याप्त है, बेचारे भोले-भाले, दरिद्र और विनम्र निवासियों के अधिकारों तथा उनके धर्म पर आक्रमण करना ईश्वर या जनता की दृष्टि में न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।"

"लगभग नौ सौ वर्षों से हमारा अपमान किया जा रहा है और इस अधःपतन का कारण यही है कि हम में सभ्यता आवश्यकता से अधिक है और हम जानवरों तक को मारने से परहेज करते हैं, हम जातियों में विभक्त हैं जिससे कि हम में ऐक्य नहीं होने पाता।"

राममोहन राय ने ईसाइयों के त्रैतवाद को चुनौती दी। उन्होंने बतलाया कि ईसाई त्रैतवाद एक पहेली मात्र है, जिस का आधार अज्ञान और अन्ध-विश्वास के सिवाय अन्य कुछ

नहीं है। उनकी चुनौती को स्वीकारने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऑनरेरी सर्जन और कलकत्ता मेडिकल स्कूल के अधीक्षक डा. टिटलर (Dr. R. Tytler, M. D.) क्षेत्र में आए और उन्होंने ईसाई कट्टरपंथी के बचाव का प्रयत्न किया। चूंकि वे मिशनरी तथा अधिकारी लेखक न थे, राममोहन राय ने उनका लेख लौटा दिया। वह लेख जब 'बंगाल हुरकारू' (पत्र) में छपा तो "रामदास" नाम से राममोहन राय ने भी व्यंग्यात्मक शैली में उन्हें पत्र लिखे। टिटलर की लेखनशैली बिलकुल भौण्डी थी।

त्रैतवाद के शिकंजे से छूटने के बाद विलियम एडम राममोहन राय के सहयोग से एकेश्वरवाद के प्रचार में लगे तथा 'एकेश्वरवाद मिशन' (Unitarian Mission) को उन्होंने संगठित किया। राममोहन राय भी उस समय से ८ अगस्त १८२८ तक (जब कि "ब्राह्म सभा" की स्थापना हुई।) अपने को 'हिन्दू एकेश्वरवादी' ही कहा करते। ईसाई जनता के नाम 'अन्तिम अपील' शीर्षक पुस्तक छापने से बेप्टिस्ट मिशन प्रेस ने इन्कार कर दिया और इसी कारण राममोहन राय को मुद्रणालय खड़ा करना पड़ा, जिसका नाम 'यूनिटेरियन प्रेस' ही रखा गया था। प्रायः एडम का सारा व्यय राममोहन राय ही उठाते थे तथा मिशन के लिए कुछ चन्दा भी उनके द्वारा एकत्र किया गया। पर यूरोपीय लोगों के असहकार के कारण वह कार्य अधिक आगे न बढ़ सका। राममोहन राय ने एडम को स्थान-स्थान पर धर्म के सम्यक् सिद्धान्तों की जानकारी के लिए भाषण देने का कार्य सौंपा। कुछ समय तक वह चलता रहा और इस निर्माण-काल में एक बड़ी संस्था का बीजारोपण हुआ, जो आगे चल कर 'ब्राह्म-समाज' के नाम से प्रख्याति प्राप्त कर सकी।

ब्राह्म-समाज और उसके सिद्धान्त

श्री शिवनाथ शास्त्री ने लिखा है कि एक दिन जब राममोहन राय विलियम एडम के यहाँ से बग्घी से लौट रहे थे, उनके दो नवयुवक शिष्य ताराचन्द चक्रवर्ती और चन्द्रशेखर देव भी उनके साथ थे। उन्होंने कहा कि 'एकेश्वरवाद मिशन' की अपेक्षा क्यों न एक ऐसा स्थान रहे जहाँ हम पूर्णतः अपने विचारानुसार आराधना कर सकें ? इस प्रकार एकेश्वर को मानने वाले व्यक्तियों की सभा की गयी और नं० ४८ चितपुर रोड, जोड़ासाकूँ में चन्द्रनगर के रामकमल बसु के मकान में पहले-पहल ब्राह्म-समाज की बैठक हुई। यह २० अगस्त १८२८ की बात है और ताराचन्द चक्रवर्ती उसके मंत्री चुने गए। समाज की सभाएँ हर शनिवार की शाम को हुआ करती थीं। दो तेलुगु पण्डित वेद-पाठ किया करते और उत्सवानन्द विद्यावागीश का उपनिषदों का पाठ होता तथा रामचन्द्र विद्यावागीश कुछ पढ़ा करते या उपदेश देते थे। उसके बाद गुलाम अब्बास राममोहन राय रचित स्तोत्रों का गायन किया करता। जनसाधारण में यह 'ब्राह्म सभा' के नाम से प्रसिद्धि पा गया था। सतीप्रथा के विरोध के कारण एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था 'धर्मसभा' भी बन गयी। फिर भी, २३ जनवरी १८३० को अपने ही स्थान (५५, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता) में "ब्राह्म समाज" का विधिवत् उद्घाटन हुआ। उपस्थित ५०० व्यक्तियों में एक मात्र यूरोपीय मोण्टगोमरी मार्टिन थे और उन्होंने अपनी पुस्तक (History of the British Colonies) में इसका जिक्र किया है।

प्रारम्भ में (१८३० ई०) ब्राह्म-समाज के 'ट्रस्ट डीड' में सिद्धान्त ये थे—(१) वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए।

(२) इन में एक ईश्वर का प्रतिपादन है। (३) मूर्त्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है, इसलिए त्याज्य है। (४) बहु विवाह, सती की वर्तमान प्रथा ये सब वेद-विरुद्ध और त्याज्य हैं। (५) ईसाइयों में बहुत-से अच्छे लोग हैं परन्तु ईसाई धर्म हिन्दू-धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि शासकों के धार्मिक विचार भी अच्छे ही हों। यह शासकों की बड़ी भूल है कि वे पराजित और शासित जातियों पर अपने दोषपूर्ण धर्म को आरोपित करें।" ब्राह्म-समाज के ५ नये नियम, लाहौर से १९१५ में प्रकाशित और कलकत्ता से १९५८ में पुनर्मुद्रित पुस्तिका 'ब्राह्म-समाज; धार्मिक सिद्धान्त और संक्षिप्त इतिहास' (लेखक, श्री शिवनाथ शास्त्री) में दिये गए हैं।

असल में, राममोहन राय किसी विशेष धर्म या मत के अनुयायी न थे और विश्वजनीन देववाद एवं सहन-शीलता में ही उनका विश्वास था। विश्वजनीन मानवता के विचार से ही उन्होंने ब्राह्म-समाज का लक्ष्य रखा "बिना किसी भेद-भाव के सब प्रकार के लोगों को एक जगह एकत्र करना।" ऐसे लोगों को "जो व्यवस्थित और गंभीर ढंग से और भक्तिपूर्वक उस शाश्वत, अप्रमेय, अधिकारी सत्ता की पूजा और अर्चना कर सकें, जो विश्व का स्रष्टा और पोषक है, पर जिसका ऐसा दूसरा नाम या कोई उपाधि नहीं है, जिससे कोई आदमी या बहुत-से लोग किसी विशेष सत्ता या सत्ताओं को खास तौर पर पुकारते हैं।" सर ब्रजेन्द्रनाथ सील के शब्दों में 'वह ब्राह्मणों में ब्राह्मण, मुसलमानों में मुसलमान और ईसाइयों में ईसाई थे।' प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने

तो उनको तुलनात्मक धर्मविज्ञान का पहला और वस्तुतः सच्चा खोजी बताया है।

राममोहन राय के निधनानन्तर 'ब्राह्म-समाज' के कार्य को (१८४३ से) आगे बढ़ाने का बीड़ा उठाया—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने। उनके पिता द्वारकानाथ ठाकुर राममोहन राय के प्रभाव से समाज के सदस्य बन चुके थे। वैसे सारा कार्य-भार श्री रामचन्द्र विद्यावागीश पर था, जिन्हें राममोहन ने प्रथम उपदेष्टा नियुक्त किया था। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के ही कारण केशवचन्द्र सेन भी आकृष्ट हुए थे और बाद में उन्होंने 'भारतीय ब्राह्म-समाज' या 'साधारण ब्राह्म-समाज' स्थापित किया तथा राममोहन राय द्वारा स्थापित समाज "आदि ब्राह्म-समाज" कहा जाता है।

अपने संस्मरणों में श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था :

"मैंने अपने बचपन में सुने उनके शब्दों 'मुझे और पूजा के लिए ?' को अपना 'गुरु-वाक्य' ही माना है तथा अपने आध्यात्मिक गुरु के उन शब्दों को ही मैं गुरु-मन्त्र मानता हूँ जिनसे कि मुझे मूर्त्ति-पूजा छोड़ने की प्रेरणा मिली। उनके वे शब्द मानों आज भी मेरे कानों में प्रतिध्वनित हो रहे हैं तथा उन्हीं से मुझे अपने इस दीर्घ जीवन में प्रेरणा मिलती रही है। बचपन की उस बात ने मेरा समस्त जीवन ही बदल डाला है।

"उनके रहस्यमय प्रभाव के ही कारण मुझे उनके कार्य को आगे बढ़ाने की प्रेरणा मिली और मेरी इच्छा यही रही कि उनके कठिन श्रम को सफल बनाया जाए। जब राजा इंग्लैण्ड जाने लगे तो विदा के लिए पिता जी से मिलने आए।......जब मैं बुलाया गया तो उन्होंने मेरे हाथ को अपने

हाथ में लिया। उस पकड़ में भी तेज था और उसका अनुभव मुझे तब नहीं, बाद के जीवन में ही हुआ।"

व्यक्तिगत जीवन का एक अध्याय

राममोहन राय के स्नान के ढंग का वर्णन करते हुए, देवेन्द्र-नाथ ठाकुर ने ही बतलाया है, कि "वे स्नान से पूर्व सरसों के तेल में मानो डूबे-से रहते और उनके अंगों से तेल की बूंदें टपकती जातीं। उनका कद लम्बा-चौड़ा, वक्ष विशाल तथा भुजाएँ माँसल थीं और नंगे बदन तेल-मालिश के पश्चात् ऐसे लगते जैसे कि तेल में डुबकी लेकर आए हों। उस समय उनके शरीर पर मात्र लंगोटी रहती। आज भी वह दृश्य मुझे याद है। इसी वेश में वे छत पर से नीचे आते—संस्कृत, फारसी या अरबी के पद्य गाते हुए और पानी से भरे विशाल टब में छलांग लगाते। उस टब में एक घण्टे से भी ऊपर मल-मल कर स्नान करते, अपने प्रिय गीतों का मस्ती के साथ पाठ करते रहते, ध्यानस्थ से रहते। उस समय मैं ८ या ९ वर्ष का होऊँगा। उस समय पता नहीं था कि वे क्या गुनगुनाते रहते थे, परन्तु अब (८०वें वर्ष में) मुझे लगता है कि यह राजा की उपासना या प्रार्थना थी।"

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उनका पारिवारिक जीवन बहुत मधुर था। जिस प्रकार अपने सार्वजनिक जीवन में उन्हें पद-पद पर संघर्षों का सामना करना पड़ा, व्यक्तिगत जीवन में भी उन्हें अनेक बाधाएं सहनी पड़ीं। रंगपुर से

कलकत्ता पहुँचने पर उन्होंने अपने परिवार के लिए शिमला मुहल्ले में दूसरा मकान खरीदा था, किन्तु उनकी दोनों पत्नियाँ गाँव में (लंगरपाड़ा में ही) रहीं—मानो कि उनका संयुक्त परिवार चल रहा था। माता तारिणीदेवी भी वहीं रहती थीं।

१६ वर्ष की अवस्था में ही मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध लिख कर राममोहन राय ने अपनी माता से जो झगड़ा मोल लिया था—वह अन्त तक बना रहा। माता ने उनको कभी क्षमा नहीं किया; माँ की ममता कठोरता का रूप धारण कर चुकी थी, उधर राममोहन राय भी दृढप्रतिज्ञ थे। धर्म के पोंगापंथियों ने लंगरपाड़ा में उनके परिवार को सताना शुरु कर दिया था। इसीलिए राममोहन को पैतृक स्थान से हट कर रघुनाथपुर नामक ग्राम में निजी मकान बनवाना पड़ा। यह १८१६ की बात है और मकान पूरा बना भी नहीं था कि अगले साल के पूर्वार्ध में उनकी पत्नियाँ एवं बच्चे उसमें रहने लगे। कलकत्ता का दूसरा मकान उनकी बाट ही जोहता रहा! लंगरपाड़ा के जमींदार रामजय बाताव्यल तो चाहते थे कि किसी प्रकार राय परिवार वह ग्राम ही छोड़ जाए! तारिणीदेवी अपने विश्वासघाती पुत्र (राममोहन) के बाल-बच्चों को अपने पास रख कर जनता की आलोचना का विषय नहीं बनना चाहती थी।

जनता की निगाह ही नहीं, स्वयं तारिणीदेवी की आँखों में ही उनका निज का पुत्र काँटे की तरह खटकता था। धर्मान्धता की बलिवेदी पर वह न्यौछावर थी! रामकान्त राय तो पहले ही चल बसे थे। कर्ज और जेल की यातनाएँ सह कर उनका बड़ा पुत्र जगमोहन भी १८१२ में चिरशान्ति

की गोद में सो गया था। तारिणीदेवी ने गोविन्दप्रसाद (जगमोहन के पुत्र) को उकसा कर जून १८१७ में राममोहन राय पर सर्वोच्च न्यायालय में, सम्पत्ति के लिए, एक मुकदमा चलवा दिया। इस प्रकार अपनी रही-सही पूँजी भी तारिणीदेवी ने मुकदमे में फूँक दी। १० दिसम्बर १८१९ को मुकदमे का फैसला हुआ और गोविन्द पर खर्चे सहित डिग्री हो गयी।

विजय ? राममोहन राय की विजय हुई थी। परन्तु यह विजय उन्हें काफी महंगी पड़ी। सालों की मानसिक यातना, समय और धन का अपव्यय तथा विरोधी पक्ष की ओर से उनकी माँ तारिणीदेवी भी गवाह थीं ! गोविन्दप्रसाद नें अपने चाचा से क्षमा मांग ली और बतलाया कि दूसरों के बहकावे में आकर उसने मुकदमा किया था। राममोहन राय की विशालहृदयता की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही थोड़ी। भूखों मरते गोविन्दप्रसाद को उन्होंने न केवल अपने मित्र जॉन डिगबी (जो १८१९ में पुनः भारत लौट आए थे।) से कह कर आबकारी विभाग में नौकरी दिलवायी, प्रत्युत द्वारकानाथ ठाकुर से उसकी जमानत भी दिलवायी।

गोविन्दप्रसाद को अपने मुकदमे में ढाई लाख रुपये के बदले करारी हार मिली थी और बड़ी मुश्किल से उसका गला छूटा था। परन्तु, मनुष्य का ही यह नालायक स्वभाव है कि वह अपने प्रति किये गए उपकारों को तुरन्त भुला बैठता है। इस बार गोविन्दप्रसाद की माता ने (२९ सितम्बर १८२० को) राममोहन राय पर सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा कर दिया ! गवाहों में गोविन्दप्रसाद का नाम भी था !

पिछले दावे की भांति सर एडवर्ड हाइड ईस्ट द्वारा यह दावा भी खारिज कर दिया गया। इस प्रकार राममोहन राय के व्यक्तिगत इतिहास के दुःखद पृष्ठ समाप्त हो गए। परन्तु क्या ये हृदय को कचोटने वाले नहीं हैं? जिस व्यक्ति को दुनिया सिर-कन्धों पर उठा रही थी, उसे उनके ही परिवार वाले टाँगें पकड़ कर घसीटना चाहते थे!

तारिणीदेवी न्यायालय में उपस्थित नहीं की गयी और इस प्रकार भयंकर सवाल-जवाबों की कठिनाई से वह बच तो गयी। उसने अपने बेटे को दुत्कारा, न्यायालय में लताड़ा और फिर भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलती रही। कहते हैं कि एक बार माता ने राममोहन से एक स्थान पर मन्दिर बनवाने के लिए जमीन और रुपया मांगा था। राममोहन राय ने यही कहा कि गरीबों को भोज देने के लिए जितना धन चाहिए ले लो, मूर्त्ति-पूजा के लिए कुछ न दूँगा। संभवतः इसी से चिढ़ कर माता ने मुकदमा चलवाया था!

१८२० की बात है। तारिणीदेवी मुकदमे द्वारा भी राममोहन राय को दृढ विचारों से अपदस्थ नहीं कर सकी थी और पश्चात्ताप के शब्दों में एक दिन बोली: "राममोहन, तुम ठीक कहते हो, किन्तु मैं एक कमजोर स्त्री हूँ। इतने दिनों से मैं यह पूजा-अर्चा करती आ रही हूँ और इससे मुझे बड़ा सुख मिला है। अब इस बुढ़ापे में मैं इसे क्या छोड़ूँगी?" और वह ग्लानि तथा पश्चात्ताप में भरी सब कुछ त्याग कर जगन्नाथ पुरी के पथ पर चल दी तथा वहाँ के सुप्रसिद्ध मन्दिर में ठाकुर जी के फर्श को बुहारते उसने जीवन के शेष दो वर्ष गुजार दिये।

सती-प्रथा का विरोध और समाज-सुधार

संसार के सभी देशों में वहाँ के रीति-रिवाज और सामाजिक मान्यताएँ न्यूनाधिक रूप में वहाँ की जनता के धार्मिक विश्वासों के अनुकूल ढल जाती हैं। यही कारण है कि धार्मिक सुधारक राममोहन राय को हम समाज-सुधारक के रूप में भी पाते हैं। उन्होंने भारतीय महिलाओं के लिए जो कार्य किया है — विशेषत: सती-प्रथा को समाप्त करने के लिए, .वही उनकी कीर्त्ति को सदा अक्षुण्ण बनाये रखेगा। उनके समय में बंगाल की महिलाएं तो वस्तुत: सामाजिक दासता की शिकार थीं। १८२८ में ही, कलकत्ता के निकटवर्ती क्षेत्र में कम-से-कम ३०९ विधवाओं को उनके पतियों के साथ जीवित जला दिया गया था। इससे उनका हृदय पसीज उठा और यही कारण है कि भारत में महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण के लिए जो कार्य 'ब्राह्म-समाज' ने किया, अन्य कोई न कर सका। राममोहन राय ने स्त्रियों के कानूनी अधिकारों के लिए ही नहीं, उन्हें शिक्षा देने और दिलाने तथा सब प्रकार से योग्य बनाने पर पूरा-पूरा जोर दिया।

राममोहन राय ने अगस्त १८१८ में सती-प्रथा के विरोध में एक ट्रेक्ट बंगला में निकाला और उसी वर्ष नवम्बर में उसका अंग्रेजी अनुवाद करके काफी संख्या में उसकी प्रतियाँ वितरित करायीं। वे स्वयं सती होने वाले स्थानों में जाया करते तथा उसे रोकने का उद्योग करते थे। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही लॉर्ड विलियम बैंटिङ्क ने दिसम्बर १८२९ में सती विरोधी-कानून निकाला। लेकिन कट्टरपंथी हिन्दुओं ने "धर्म-सभा" स्थापित की तथा १७ जनवरी

१९३० को ही राममोहन राय का आन्दोलन समाप्त करने के लिए ११,२६० रुपये एकत्र किये गए। किन्तु उन्होंने 'धर्म-सभा' के १२० पण्डितों के प्रश्नों का एक ट्रेक्ट में ही जवाब दिया था।

१८३२ में राममोहन राय ने महिलाओं के अधिकारों तथा बहुपत्नी-प्रथा के विरोध में एक पुस्तक भी लिखी और स्त्रियों के उत्तराधिकार कानून का सविस्तार विश्लेषण किया था। वे बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे। अपनी पौत्री की शादी भी उन्होंने १६ वर्ष की हो जाने पर की थी। वे जात-पाँत के भी पक्के विरोधी थे।

शिक्षा-क्षेत्र को उनकी देन

भारत-भक्त, दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रयूज ने १९३८ में लिखा था—

> "यह राममोहन राय की उच्च नैतिकता और आध्यात्मिक प्रतिभा ही थी, जिसकी वजह से १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उन्होंने अन्य किसी भी जीवित व्यक्ति की अपेक्षा मानव-इतिहास के पथ को अधिक सुन्दर बनाया। यह पूर्ण सच्चाई के साथ कहा जा सकता है कि अपने चरित्र और व्यक्तित्व से उन्होंने एशिया की शक्ल ही बदल दी और यूरोप एवं यूरोपीय विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया।"

राममोहन राय भारतीयों के लिए आधुनिक शिक्षा के पक्षपाती थे और १८२३ में ही लार्ड एमहर्स्ट के नाम लिखे

गए अपने पत्र में उन्होंने नूतन शिक्षण-प्रणाली पर जोर दिया था। उसमें उन्होंने गणित, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, प्राकृतिक दर्शन एवं अन्यान्य उपयोगी विज्ञानों के अध्यापन की आवश्यकता बतलायी थी। अपने ये विचार उन्होंने लॉर्ड मेकाले से १२ वर्ष पूर्व व्यक्त किये थे और वे पाश्चात्त्यीकरण नहीं, आधुनिकता के पक्षपाती थे।

राममोहन राय 'वैज्ञानिक भारत' के लिए एक मसीहा थे और आज से १३८ वर्ष पूर्व उन्होंने कह दिया था कि वैज्ञानिक शिक्षा के बिना भारत का निस्तार नहीं है। बंगला साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० सुकुमार सेन ने लिखा है : "जब हम भाषा और साहित्य के क्षेत्र में राममोहन की उपलब्धियों पर विचार करते हैं तो न्यूनतम यही कहा जा सकता है कि उनके बिना विद्यासागर, बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ से विद्वान् संभव नहीं थे।" डा० सेन ने जो बंगला साहित्य और भाषा के लिए कहा है, वही भारतीय राष्ट्रीय जागृति के अन्य क्षेत्रों के लिए भी राममोहन राय के बारे में सत्य है।

राममोहन राय ने अपने व्यय से भी १८१६-१७ में सूरीपाड़ा (कलकत्ता) में एक इंग्लिश स्कूल खोला था। बाद में यह कार्न वालिस स्क्वायर में आ गया। इसी में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और राममोहन राय के पुत्र रामप्रसाद साथ-साथ पढ़ा करते थे। १८३० में राममोहन के इंग्लैण्ड जाने पर स्कूल का संचालन पूर्णचन्द मित्र करते थे। डेविड हेर को अपना स्कूल स्थापित करने में उन्होंने किस प्रकार सहायता दी थी, उसका उल्लेख पूर्व हो ही चुका है। स्कॉटलैण्ड के मिशनरी एलेक्जेण्डर डफ को भी कलकत्ता में (१८३० में) स्कूल खोलने के लिए मकान एवं छात्रों से उन्होंने सहायता पहुँचायी थी।

लेखक एवं पत्रकार के रूप में

राममोहन राय ने १८०३ में पुस्तक-लेखन आरम्भ किया और १८१३ के बाद लगभग दो दशक तक उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही। "कलकत्ता कोरियर" (६ जनवरी १८४०) में छपा था कि राममोहन राय की सभी बंगला कृतियों का एक सम्मिलित संस्करण अपने व्यय पर, मुफ़्त वितरण के लिए, बाबू आनन्दप्रसाद बनर्जी द्वारा प्रकाशित किया गया था। इंग्लैण्ड में ही उनकी लगभग २० पुस्तकें छपी थीं। उनकी बंगला कृतियों के तो अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

सर्वोच्च न्यायालय में जब उनके परिवार वालों ने १८१७-१८२१ के बीच मुकदमा कर रखा था, तो भी वे अपने सिद्धान्तों से विचलित न हुए। उन वर्षों में भी उन्होंने लगभग १२ ट्रेक्ट और धार्मिक पुस्तकों के बंगला एवं संस्कृत में अनुवाद प्रकाशित किये। दिसम्बर १८१७ में उनके 'माण्डूक्योपनिषद्' की समीक्षा करते हुए "कलकत्ता मन्थली जर्नल" ने लिखा था : "*उनके द्वारा कही गयी बातों की किसी समय पूर्ति हो गयी, चाहे कभी भी हो, तो हमें संतोष है कि राममोहन राय की बौद्धिक सूझ का कृतज्ञता के साथ स्मरण किया जाएगा; और जबकि पाश्चात्य जगत् में लूथर के श्रम का ईसाइयों द्वारा अभिनन्दन किया जा सका, हमें आशा यही है कि इस एक व्यक्ति का कठोर परिश्रम, मानवता के हिन्दू अंश के उद्धारक के रूप में प्रतिष्ठित कर पायेगा।*" राममोहन राय के लिए की गयी वह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

राममोहन राय की गद्य-लेखन-शैली इतनी सरल और परिमार्जित थी कि उन्हें आधुनिक बंगला-गद्य का निर्माता ही

कहा जाता है। व्याकरणसम्मत भाषा का लेखन तथा उचित चिह्नों का प्रयोगादि करना उनकी अपनी विशिष्टता थी। बंगला में एकेश्वरवादी स्तुतियाँ लिखने वाले भी वे ही प्रथम व्यक्ति थे। बंगला भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री रामगति न्यायरत्न ने उस बारे में लिखा है: "उनमें ऐसी शक्ति समाहित है कि पत्थर-दिलों को भी पिघला दे, अत्यन्त अधार्मिक व्यक्तियों को ईश्वरनिष्ठ बना दे तथा दुनियादारी में डुबे हुए दिलों को संसार से विरक्त ही बना दे।"

जैसे उच्चकोटि के वे लेखक थे, वैसे ही प्रखर एवं प्रतिभाशाली पत्रकार भी थे — राममोहन राय। १९०६ में सम्पादकाचार्य श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने उन्हें "भारत में देशी पत्रकारिता के जन्मदाता" कहा था। उनका बंगला साप्ताहिक "संवाद कौमुदी" पहले-पहल ४ दिसम्बर १८२१ को प्रकाशित हुआ था। उक्त पत्रिका के प्रथम अङ्क में प्रकाशित सामग्री ही उनकी अभूतपूर्व सूझ-बूझ और लौह-लेखनी की परिचायक है।

राममोहन राय ने १२ अप्रेल १८२२ से फारसी में "मिरात-उल-अखबार" ('बुद्धि का दर्पण') भी निकाला था, जिसकी शैक्षणिक महत्ता भी थी। राजनीति के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य और विज्ञान विषयक सामग्री भी उसमें रहा करती थी। फारसी का यह पहला साप्ताहिक था, जो कलकत्ता से उन्होंने प्रकाशित किया था। उसके प्रथम अङ्क में ही विविध विषयों पर उन्होंने लिखा था, यथा — (१) चीन के साथ मत-भेद, (२) टिप्परा के जज जॉन हयेस का ट्रायल, (३) रूस और पोर्ट में अनबन के कारण, (४) रणजीतसिंह का दुरुपयोग, (५) इस वर्ष हिन्दुस्तान में अन्नोत्पादन की

बहुलता, (६) नील और अफीम की कीमतें, (७) हाथियों का जोड़ा — विक्रय के लिए, और (८) शाहजहानाबाद में स्कूल के उपयोग का प्रस्ताव, आदि।

राममोहन राय के कानून सम्बन्धी लेखों — 'प्राचीनकाल में स्त्रियों के अधिकार', 'बंगाल के कानून के अनुसार पैतृक सम्पत्ति पर हिन्दुओं के अधिकार' — की तो कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति और कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश गुरुदास बनर्जी ने (१८८९ में) बहुत-ही प्रशंसा की थी। १९२७ में प्रकाशित सर बनर्जी के भाषणों से इस पर प्रकाश पड़ा है और उन्होंने सर हेनरी मेन की लेखनी से राममोहन की लेखनी की तुलना की थी। कानून के अभ्यासी न होते हुए भी राममोहन की कानूनी जानकारी उच्चकोटि की थी।

अगस्त १८२२ के 'मिरात' में प्रकाशित, ईसाई त्रैतवाद सम्बन्धी राममोहन राय के लेखों के कारण सरकार बौखला उठी और तत्कालीन कार्यवाहक वाइसराय एडम ने प्रतिबन्धक 'प्रेस आर्डिनेंस' लगा दिया। राममोहन राय ने प्रतिरोध में अपना फारसी साप्ताहिक बन्द कर दिया। उसके अन्तिम अङ्क में राममोहन ने जो सम्पादकीय छापा था, वह अत्यन्त उत्तेजक एवं उद्बोधक है। वे फिर समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के लिए जी जान से लग पड़े।

बिना सूचना दिये सरकार ने १४ मार्च १८२३ को 'प्रेस निरोधक कानून' पास कर दिया। नियम यही था कि सर्वोच्च न्यायालय में प्रकाशन के २० दिन बाद ही उस पर अमल होना चाहिए। राममोहन राय ने कहा : '*प्रत्येक अच्छा शासक, जिसे विश्वास है कि मानव-प्रकृति में कई त्रुटियां होती हैं और जो*

विश्व के चिरन्तन शासन का भय करता है, उसे इस बात का ज्ञान रहना आवश्यक है कि एक बड़े साम्राज्य के कामों की व्यवस्था करने में भूल हो जाने की संभावना रहती है।' नये कानून के अनुसार कोई व्यक्ति सरकार से अधिकार प्राप्त किये बिना अखबार न निकाल सकता था। राममोहन ने सर्वोच्च न्यायालय में अपना मुकदमा लड़ने के लिए टर्टन नामक एक अंगरेज को नियुक्त किया था।

राममोहन राय के विषय में टर्टन के विचार ये थे —

"सन् १८२३ में राममोहन से मेरा पहली बार परिचय हुआ। तब मुझे एक पराधीनता के भाव में पालित-पोषित मनुष्य में स्वाधीनता का अपरिमित प्रेम देखकर आश्चर्य तथा प्रसन्नता हुई।

"मुझे संदेह है कि ऐसे मनुष्य के मन में पराधीनता रह भी सकती है या नहीं। इसी लिए मैं, अपने प्रयत्नों के साथ — चाहे वे फिर नगण्य ही क्यों न हों, इस अधिवेशन के उद्देश्यों की सहायता के लिए आगे आया।"

प्रेस की स्वाधीनता के राममोहन राय धुरन्धर समर्थक थे। उन्होंने सपरिषद् सम्राट् के पास अपने और साथियों के हस्ताक्षरों से जो आवेदन-पत्र भेजा था, वह भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। उन्होंने लिखा था :

"सभी जानते हैं कि निरंकुश सरकारें हमेशा अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य को नियन्त्रित रखना चाहती हैं, क्योंकि उन्हें ड़र रहता है कि इससे उनके कार्यों की आलोचना होगी। वे प्रायः यह तर्क दिया करती हैं कि ज्ञान का प्रसार प्रत्येक वैध सत्ता के लिए एक खतरा है। जनता जैसे ही उद्बुद्ध होती जाएगी, उसे यह पता चल जाएगा कि संगठित रूप

से प्रयत्न करके बहुसंख्यक शीघ्र ही अल्पसंख्यकों की सत्ता से मुक्ति पा सकते हैं। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लोग कितने ही उद्बुद्ध होते जाएंगे, वे तब तक शासन के विरुद्ध विद्रोह न करेंगे, जब तक शासन न्याय और दया के साथ चलाया जाता है और शासित जनता की रक्षा की जाती है तथा उनका उल्लंघन नहीं किया जाता।''

राममोहन राय की, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के लिए की गयी अपील पर उस समय तो ध्यान न दिया गया; किन्तु उनके परिश्रम का फल १८३५ में निकला, जब सर चार्ल्स मेटकाफ ने प्रतिबन्धों की वह उग्रता हटा ली।

स्वाधीनता से प्यार

उन्हें स्वाधीनता से उत्कट प्रेम था और उन्होंने सदा विश्व में कहीं भी होने वाले स्वातंत्र्य-संग्रामों का समर्थन किया और उनके साथ पूरी सहानुभूति दिखलायी थी। उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि जब वे उत्तमाशा अन्तरीप होकर इंग्लैण्ड जा रहे थे, तो उन्होंने फ्रांस के जलपोत पर 'स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व का प्रतीक' तिरंगा लहराता देखा। वे आग्रहपूर्वक उस पोत तक उस ध्वज का अभिनन्दन करने पहुँचे।

१८१९ में जब 'ज्यूरी एक्ट' लागू किया गया तो उन्होंने उसका खुलकर विरोध किया। उन्होंने कहा: "इस एक्ट के अनुसार ईसाई (चाहे वे यूरोपीय हों या भारतीय)

भारतवासियों — दोनों हिन्दू और मुसलमान — के ज्यूरी [न्यायसभा सदस्य] हो सकते हैं, पर एक हिन्दू या मुसलमान, चाहे सामाजिक दृष्टि से वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, एक ईसाई का ज्यूरी नहीं बन सकता। साथ ही हिन्दू या मुसलमान के मामले में भी हिन्दू-मुसलमान ज्यूरी के सदस्य नहीं हो सकते। श्री विन के बिल का यही निचोड़ है और इससे हमें भारी शिकायत है। प्रत्येक सरकार अपनी प्रजा के सभी वर्गों में समता बढ़ाना चाहती है, जिससे वे अपने को एक परिवार का सदस्य समझें। वह किसी वर्ग-विशेष के प्रति पक्षपात नहीं करती, प्रत्युत प्रत्येक योग्य और गुणी व्यक्ति को समुचित प्रोत्साहन देती है। यदि इसके विरुद्ध आचरण किया जाएगा, तो धार्मिक जलन और कटुता बढ़ेगी, घृणा और बदले की भावना बलवती होगी और सरकारी कारबार में भी एक विभाजन-रेखा खड़ी हो जाएगी।''

राममोहन राय किसानों के अधिकारों के भी प्रबल समर्थक थे। लगान बढ़ाने का उन्होंने डटकर विरोध किया था। वे स्थायी बन्दोबस्त के समर्थक थे, पर चाहते थे कि किसान द्वारा दिये जाने वाले अधिकतम लगान की राशि तय कर दी जानी चाहिए। दूसरे आर्थिक प्रश्नों पर भी उनके विचार बड़े प्रगतिशील थे।

उनका अनुमान था कि १७६५ से १८२० के बीच भारत से जो पूँजी या रकम सरकारी या गैर-सरकारी रूप में भारत से बाहर गयी, उसकी राशि दस करोड़ पौण्ड होगी और इसमें से अधिकांश इस देश में काम करने वाले अंगरेजों ने अपनी निजी संपत्ति के रूप में जमा किया है। इसी लिए उनका विचार था कि यदि इन लोगों को कुछ शर्तों के साथ इस देश

में रहने और लाभ वाले कामों में पैसा लगाने को प्रोत्साहित किया जाए तो उनके खेती के श्रेष्ठ तरीकों से भारतीय लाभान्वित हो सकेंगे।

राममोहन राय का कथन था कि अपने इतिहास के द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि ज्ञान की प्रथम किरण के लिए दुनिया हमारे पूर्वजों की कृतज्ञ थी। यद्यपि मशीनों के प्रयोग की कला में हमने पश्चिम से जो कुछ सीखा है, उसके लिए हमें उनका आभारी होना चाहिए, तथापि विज्ञान, साहित्य या धर्म के क्षेत्र में हमें किसी का कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं। अपने "भारत में यूरोपीयों का निवास" सम्बन्धी टिप्पण में उन्होंने ऐसे भारत की झांकी देखी थी, जो सामाजिक अथवा कुछ अन्य दृष्टियों से पश्चिम से प्रभावित होगा और संभवतः स्वाधीन होगा तथा जो एशिया का पथ-प्रदर्शक बनेगा।

यूरोप-प्रवास

रंगपुर से कलकत्ता आते समय ही राममोहन राय की इच्छा थी कि एक बार यूरोप की यात्रा करें। येट्स को अपने १८१५ में लिखे गए एक पत्र में उन्होंने यह आकांक्षा प्रकट भी की थी कि इंग्लैण्ड के किसी विश्वविद्यालय में कुछ समय तक अध्ययन किया जाए। परन्तु उनका यूरोप-प्रवास १५ नवम्बर १८३० से पूर्व सम्भव नहीं हो सका। 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना हो चुकी थी। उसकी विधिवत् व्यवस्था करके उन्होंने यूरोप-यात्रा की तैयारी की। इंग्लैण्ड पहुँचकर वे सती-प्रथा

को बिलकुल समाप्त करा देना चाहते थे और चूंकि उन्हीं दिनों 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर' पास होने वाला था, उस अवसर पर वे उपस्थित होना चाहते थे। इसके लिए दिल्ली-सम्राट् ने उन्हें अपना दूत बनाकर इंग्लैण्ड भेजा था जिससे कि वे कम्पनी को उनकी फर्याद भी पहुँचा सकें।

१८२८ की बात है। अंगरेजों के हाथ में कठपुतली दिल्ली के सम्राट् अबुनसर मुइनुद्दीन अकबर (अकबर द्वितीय) ने कलकत्ता-स्थित अपने एजेण्ट को लिखा कि वह राममोहन राय से मिले और उनके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा इंग्लैण्ड के राजा से भत्ता बढ़वाने का प्रयत्न कराया जाए। सम्राट् की इच्छा के अनुसार राममोहन ने एक प्रार्थना-पत्र फारसी में तथा दूसरा अंग्रेजी में तैयार किया। ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने कुछ समय पूर्व मूल प्रार्थना-पत्र खोज निकाला है तथा उसकी भाषा-शैली में प्रवाह, स्पष्टता और शालीनता की वही पुट है जैसी कि राममोहन राय के अन्य लेखों में मिलती है। उनकी लेखनी का ओज उस एक ही पत्र से स्पष्ट है।

दिल्ली के सम्राट् ने राममोहन राय को "राजा" की उपाधि से सम्मानित किया तथा दिल्ली से अपना एलची बनाकर उन्हें लन्दन भेजा। इसके लिए उन्हें विशिष्ट प्रकार की मुहर भी दी गयी। ८ जनवरी १८३० को राममोहन राय ने वाइसराय को सूचित किया था कि उन्हें सम्राट् द्वारा 'राजा' की उपाधि प्रदान की गयी है, उसे मान्यता दी जाए तथा उन्हें सम्राट् का दूत मान कर इंग्लैंड जाने की अनुमति दी जाए। २९ सितम्बर १८३० को उन्होंने विलायत जाने का निर्णय किया। राजा राममोहन राय के प्रयत्न से, लन्दन में, यह तय हुआ कि दिल्ली के सम्राट् को १२ लाख की वार्षिक पेंशन के अतिरिक्त ३ लाख और दिये जाया करें तथा उसके लिए कुछ शर्तें निर्धारित की गयी थीं।

राममोहन राय भारत से १५ नवम्बर १८३० को जहाज में सवार हुए और ८ अप्रेल १८३१ को (केप ऑव गुड होप के मार्ग से) लीवरपुल पहुँचे। उन दिनों समुद्र-यात्रा कितनी लम्बी थी, इसका सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। उनके साथ उनके दत्तक-पुत्र राजाराम, रसोइया—रामरतन मुकर्जी और नौकर रामहरिदास थे। "समाचार दर्पण" (५ जून १८३३) में निकला था कि दिल्ली के सम्राट् ने राजा को एलची बनाने के बदले में ७० हजार रुपये दिये थे तथा यह निर्णय भी किया था कि यदि उनके वार्षिक भत्ते में आठ लाख की बढती हो गयी तो वे राजा राममोहन राय को चार लाख रुपये तथा ५०००) मासिक भत्ता देंगे। किन्तु राजा तो स्वदेश लौटकर ही नहीं आए।

लीवरपुल में राजा पहले-पहल सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विलियम रॉस्को से मिले, जो कि मृत्यु-शय्या पर थे और रॉस्को ने इन से मिलकर अपना अहोभाग्य समझा। लन्दन पहुँचने पर प्रख्यात ब्रिटिश दार्शनिक जेरेमी बेंथम राजा राममोहन राय से मिले। जेरेमी बेंथम के जीवनी-लेखक सर जॉन बावरिंग ने इसका विशद विवरण दिया है। राजा की प्रसिद्धि उनके पहले ही लन्दन पहुँच चुकी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विधायकों ने ६ जुलाई १८३१ को उन्हें विशाल भोज दिया और सम्मानित किया। विलियम चतुर्थ के राज्याभिषेक के अवसर पर भी राममोहन राय यूरोप के देशों के राजदूतों और नरेशों के मध्य ही बैठे थे। उस समय उनके इस सम्मान से भारत ही सम्मानित हुआ था। लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने भी उनका अभिनन्दन किया।

'लन्दन ब्रीज' के उद्घाटन के समय भोज में भी उन्हें आमंत्रित किया गया। ईसाइयों के "एकेश्वरवाद संघ" ने उनका अच्छा स्वागत किया। लन्दन में रहकर राजा राममोहन

राय ने भारत और भारतीयों के लिए बहुत-कुछ कार्य किया। भारत में रहकर राजनीति में भी उन्होंने भाग लिया था तथा 'हाउस ऑव कामन्स' को भारत-विषयक-समिति के समक्ष उन्होंने १८३१ और १८३२ में अपनी गवाहियाँ पेश कीं। भारत के शासन के बारे में वहाँ उन्होंने कई लेख प्रकाशित कराये। मई १८३१ के "एशियाटिक जर्नल" में छपा था कि किस प्रकार राममोहन राय के उद्योग से सती-प्रथा के विरुद्ध की गयी अपील प्रीवीकौंसिल द्वारा रद्द कर दी गयी तथा ११ जुलाई १८३२ को उनका निर्णय भी घोषित हुआ। कट्टर-पंथियों के सभी प्रयत्न निष्फल रहे और राजा की विजय हुई।

अब्बे ग्रिगोयर के कारण राममोहन की ख्याति तो १८१८ में ही फ्रांस में पहुँच चुकी थी। सिसमोण्डी ने १८२४ के 'Revue Enclopèdiquè (Paris) में राममोहन के विषय में बहुत सुन्दर लिखा था। राजा १८३२ के आखिरी दिनों में फ्रांस भी पहुँच ही गए। फ्रांस के राजा लुई फिलिप ने कई भोजों में उन्हें आमंत्रित किया। पेरिस की संस्था 'सोसायटी एशियाटिक' के तो वे पहले ही सम्मानित सदस्य नामित हुए थे। जनवरी १८३३ में वे लौटकर लन्दन पहुँचे और कलकत्ता में डेविड हेर के भाइयों — जॉन तथा जोजेफ हेर के यहाँ ही वे ठहरे।

फरवरी १८३३ में संसद् में होने वाले प्रश्नों को जानने तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विधान में सुधार के लिए वे इंग्लैण्ड में ही रुके रहे। 'सेलेक्ट कमेटी' की रिपोर्ट संसद् को अगस्त १८३२ में भेजी जा चुकी थी, किन्तु कम्पनी के विधायक अप्रेल १८३३ से पूर्व उस पर विचार न कर सके। अत्यधिक श्रम और आवश्यकता से अधिक आतिथ्य-सत्कार के कारण राजा राममोहन राय का स्वास्थ्य गिरता जा रहा

था। वे अपने ब्रिस्टल-स्थित मित्र डा० लेण्ट कार्पेण्टर से मिलकर स्वदेश लौटना चाहते थे। आर्थिक तंगी की हालत में बहुत समय तक निरन्तर काम करने के बाद वे कुछ समय आराम करने के लिए सितम्बर १८३३ के प्रारम्भ में ब्रिस्टल पहुँचे। उन्हें जिगर की बीमारी हो गयी थी। अचानक १९ सितम्बर को वे बहुत अस्वस्थ हो गए। भयंकर सिर-दर्द था और साथ में ज्वर का भी आक्रमण। किसे पता था कि ब्रिस्टल पहुँचकर वे भारत न लौट सकेंगे! बीमारी जोर पकड़ती ही गयी। अच्छे-से-अच्छे डाक्टरों की मदद ली गयी, पर २७ सितम्बर को उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। कुमारी कोल्लेट ने लिखा है कि अन्तिम समय में वे 'ओंकार' का जप ही करते रहे थे।

कु० मेरी कार्पेण्टर ने उल्लेख किया है कि उनकी मृत्यु इतनी अकस्मात् हुई कि कोई यह भी न सोच सका कि उनके शव का क्या किया जाए। कुमारी कॉसल ने अपने उद्यान के पास एक सुन्दर स्थल प्रदान किया और दोपहर के लगभग दो बजे, १८ अक्तूबर को, उन्हें समाधिस्थ कर दिया गया। लेकिन 'स्टेप्लटन ग्रोव' उनका विश्राम-स्थल नहीं रहा, कॉसल परिवार के कारण सर्वसाधारण वहाँ अपनी श्रद्धांजलि देने नहीं जा सकता था। १८४२ में द्वारकानाथ ठाकुर (गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के पितामह) जब इंग्लैण्ड पहुँचे तो ब्रिस्टल के बाहर उन्होंने हिन्दू-मन्दिर के ढंग पर एक समाधि-स्थल निर्मित कराया तथा २९ मई १८४३ को राजा राममोहन राय के अवशेष उसी में रखे गए। पत्थर से निर्मित उस समाधि-गृह में, १८७२ में मरम्मत भी की गयी और तब से आज तक वह एक महान् भारतीय का स्मृति-मन्दिर वहां खड़ा है तथा विदेश जाने वाले तथा प्रवासी भारतीयों के लिए एक

तीर्थ-स्थल है। ब्रिस्टल की आर्ट गैलरी में राजा राममोहन राय का आदमकद चित्र उनके भव्य व्यक्तित्व का प्रतीक है। २७ सितम्बर को प्रति वर्ष वहाँ अनेकानेक भारतीय एकत्र होते हैं तथा सदा होते रहेंगे। उस दिन भारत का वह लाडला लाल नहीं रहा! वह चला गया, किन्तु उसके द्वारा प्रदीप्त ज्योति सदा आलोकित रहेगी और नयी पीढी के युवकों को प्रेरणामय जीवन का शुभ सन्देश देती रहेगी।

एक सार्वभौम व्यक्ति

राजा राममोहन राय सभी देशों और सभी लोगों के लिए राजनीतिक स्वाधीनता के प्रेमी और पक्षपाती थे। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और सन् १८३२ के "इंग्लिश रिफार्म्ज एक्ट" पर उन्होंने खुल्लम-खुला अपनी प्रसन्नता का प्रकाश किया था। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में स्पेनिश साम्राज्यवाद के पतन पर हर्षोत्सव मनाया था। उन्होंने जब सुना कि आस्ट्रियन साम्राज्यवाद ने नेपल्ज़ को तहस-नहस कर डाला है तो उन्हें भारी दुःख हुआ था। १८३१ में फ्रेंच राजदूत के नाम अपनी चिट्ठी में उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय मेल-मिलाप की अधिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए लिखा था :

"......यह बात अब प्रायः सभी मानते हैं कि न केवल धर्म, वरन् पक्षपात-रहित सामान्य बुद्धि तथा वैज्ञानिक शोध के ठीक-ठीक अनुमान इस परिणाम पर ले जाते हैं कि सारी मनुष्य जाति एक बड़ा परिवार है, संसार के बहुसंख्यक राष्ट्र तथा कुल उसकी केवल शाखाएं हैं। इस लिए सभी देशों के प्रबुद्ध मनुष्य इस लालसा का अनुभव करते हैं कि सभी प्रकार से यथासंभव सभी रुकावटों को दूर

करके मानवी मेल-जोल को प्रोत्साहित किया और आसान बनाया जाए। तभी समूची मानव-जाति को पारस्परिक लाभ और आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।"

१९३३ में, भारतीय स्वातंत्र्य के प्रेमी अमेरिकन, रेवरेण्ड जे० टी० सण्डरलैण्ड ने (जिनकी पुस्तक India in Bondage [पराधीन भारत] ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर दी गयी थी) लिखा था—

"मुझे निश्चय है कि जब भारत स्वतंत्र और एक महान् राष्ट्र बन जाएगा, भगवत्कृपा से वह दिन निर्णीत है और दूर भी नहीं है, तब वहाँ राममोहन राय के अमरत्व की बृहत्तर और सच्चे मानो में पहचान होगी — क्या मैं कहूँ — मोसेज या मेजिनी या वाशिंगटन की भांति? अथवा इन सबको मिलाकर एक ही रूप में?"

डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने तो राममोहन राय को विश्व की संस्कृतियों और धर्मों का महानतम प्रवक्ता बतलाया था। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने उनके लिए कहा था — "राममोहन का कोई भी समकालीन मानवता की एकात्मकता को इतने पूरे रूप में ग्रहण नहीं कर पाया जैसा कि राममोहन कर पाये थे। हमारा युग अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की निकटता का है और राममोहन उस भित्ति पर खड़े हुए थे कि उन्होंने अपने लोगों की परम्परा तथा संस्कृति का निचोड़ लेकर विश्व की अन्यान्य परम्पराओं एवं संस्कृतियों के लिए भ्रातृत्व का हाथ आगे बढ़ाया।" राजा राममोहन रांय के अनुयायी इन दो भारतीयों ने उन्हें जैसा समझा, क्या हम उसी रूप में उन्हें समझकर, उनके जीवन से कुछ भी प्रेरणा ग्रहण कर सकेंगे? तभी स्वाधीन भारत में राममोहन का मूल्याङ्कन हो सकेगा।

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द सरस्वती

[सन् १८२४—१८८३ ई.]

सुदर्शनसिंह चक्र
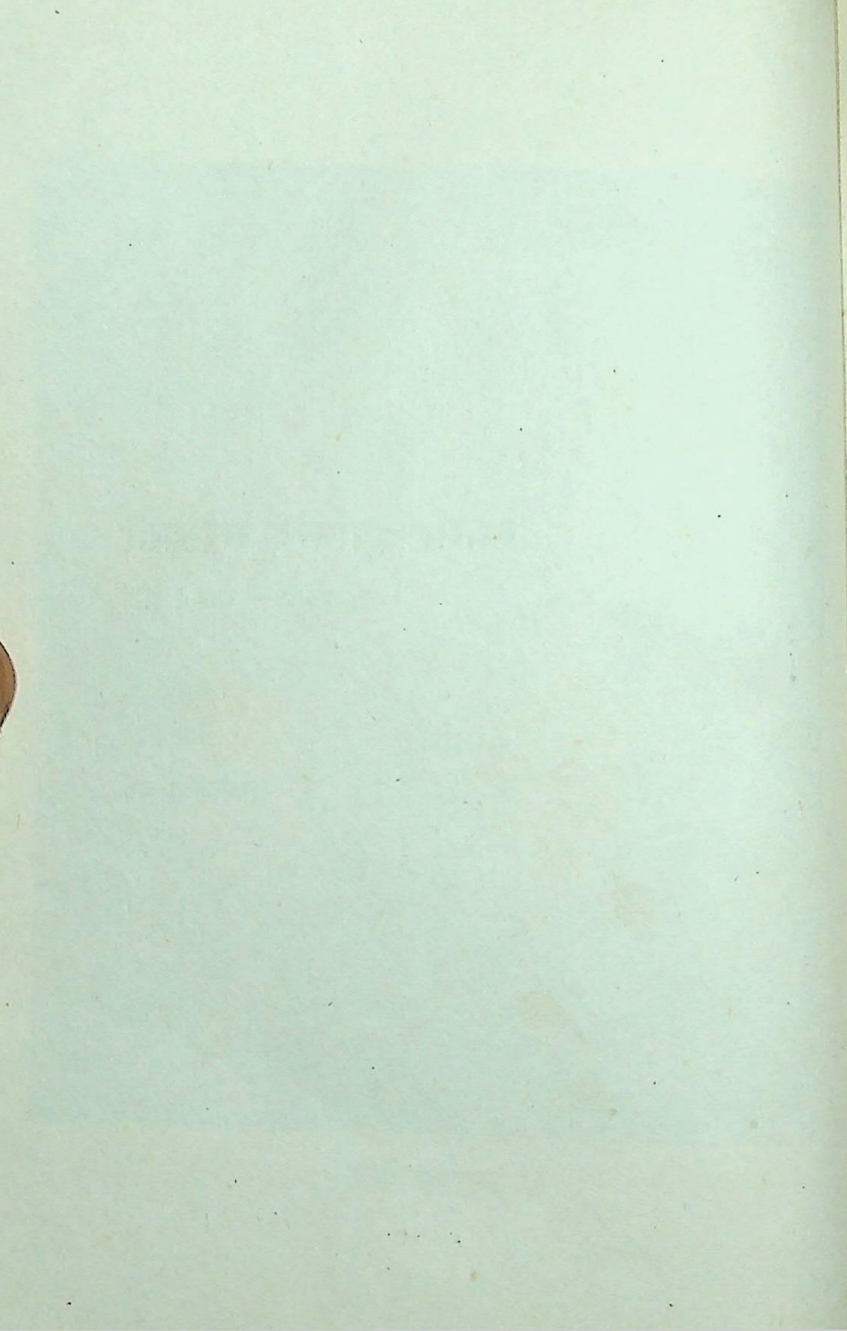
जन्म और बाल्यकाल

महर्षि दयानन्द ने अपना घर का नाम, पिता का नाम आदि कभी बताया नहीं। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि इससे आशंका थी कि घर-परिवार के लोग आकर उनकी शान्ति में बाधा देंगे और दूसरे यह मर्यादा भी है कि संन्यासी अपने पूर्वाश्रम का परिचय न दे। फलतः, महर्षि के ठीक जन्म-समय एवं उनको जन्म देने वाले माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने स्वयं अपनी जीवन-कथा लिखनी प्रारम्भ की थी। उसका कुछ अंश 'थियासोफिस्ट' पत्र में प्रकाशित हुआ था। वही सब से प्रामाणिक जीवन-परिचय उपलब्ध है।

गुजरात-काठियावाड़ में राजकोट से उत्तर की ओर मौरवी राज्य में टङ्कारा नामक नगर है। इसी नगर को स्वामी दयानन्द की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। यह स्मरणीय है कि मौरवी स्वयं में एक छोटे राज्य की राजधानी थी। यहां का राजा कच्छपति राव का वंशधर कहलाता था

और बड़ौदा के गायकवाड़ तथा जूनागढ़ के नवाब को भी 'कर' देता था।

ठीक तिथि तो ज्ञात नहीं; किन्तु विक्रम सम्वत् १८८१ (सन् १८२४ ई०) में एक सम्पन्न उदीच्य ब्राह्मणकुल में स्वामी दयानन्द जी का जन्म हुआ। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं और गुजरात में उत्तम ब्राह्मण माने जाते हैं।

जैसा महर्षि दयानन्द के स्वतः के वर्णन से ज्ञात है, उनके पिता बहुत सम्पन्न थे—लक्षाधिपति थे, और उनके पास पर्याप्त सेवक एवं कुछ सिपाही भी थे। महर्षि का घर का नाम मूलजी था। मूलजी माता-पिता की प्रथम सन्तान थे। बहुत स्नेह से मूलजी का लालन-पालन हुआ।

पिता विद्वान् थे और आस्थावान् शिवभक्त थे। सनातन-धर्मी परम्पराओं में उनकी पूरी निष्ठा थी। पुत्र के जात-कर्मादि संस्कार उन्होंने विधिपूर्वक सम्पन्न कराये। पांच वर्ष की आयु में मूलजी को अक्षरारम्भ कराया गया और आठवें वर्ष में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। अब उन्हें गायत्री जप तथा नियमपूर्वक संध्या करने की शिक्षा दी गयी।

यद्यपि उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं; किन्तु पिता ने मूलजी को रुद्राष्टादशाध्यायी की और फिर यजुर्वेद की शिक्षा दी। चौदह वर्ष की अवस्था में मूलजी को सम्पूर्ण यजुर्वेद-संहिता कण्ठस्थ हो गयी थी। दूसरे वेदों का भी उन्होंने कुछ अभ्यास कर लिया था और व्याकरण के भी कुछ अंश से परिचित हो गए थे।

पिता नैष्ठिक शैव थे; नित्य पार्थिव पूजन करते थे। अतः उनकी स्वाभाविक इच्छा थी कि उनका पुत्र भी शिव-

भक्त बने। वे चाहते तो थे कि मूलजी व्रत-उपवासादि भी विधिपूर्वक करें, किन्तु पुत्र का स्नेह उन्हें इस विषय में कठोर नहीं होने देता था। अवश्य ही वे मन्दिरों में, कथा में, शिवोत्सवों में पुत्र को साथ ले जाते थे।

इस समय तक मूलजी भी मिट्टी का शिवलिङ्ग बना कर पार्थिव-पूजन करने लगे थे और उनके हृदय में भी शिवभक्ति का उदय हो गया था। सं० १८९४ में पिता ने उन्हें शिव-रात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। यह व्रत बिना जल-पिये रखा जाता है और रात्रि में जागरण करके शिवार्चन करना होता है। पहिले तो बालक मूलजी हिचके; किन्तु जब उन्होंने व्रत का माहात्म्य सुना तो उनमें स्वतः व्रत के लिए उत्साह हो गया।

यही वह शिवरात्रि थी जिस दिन बालक मूलजी के चित्त में मूर्त्ति-पूजा के प्रति अनास्था का जन्म हुआ। परिस्थिति ने उसे आगे बढ़ाया ही।

बात यह हुई कि व्रत की रात्रि में बड़ी धूमधाम से शिव-मन्दिर में प्रत्येक प्रहर में पूजन हुआ। पिता के साथ मूलजी उस पूजन में श्रद्धापूर्वक सम्मिलित थे। तीसरे प्रहर का पूजन हो जाने पर वहां मन्दिर में जितने लोग थे, प्रायः सब को निद्रा आ गई। लोग बैठे-बैठे ही सो गए, पिता भी सो गए; किन्तु मूलजी ने बलपूर्वक अपने को जागृत रखा। वे समझते थे कि निद्रा आ जाने से व्रत का पूरा फल प्राप्त नहीं होगा।

इसी समय उन्होंने देखा कि कुछ चूहे शिवमूर्त्ति पर चढ़ कर भक्तों द्वारा चढ़ाया प्रसाद, अक्षत आदि खा रहे हैं और मनमानी उछल-कूद मचा रहे हैं।

"यह शिव कैसे जो अपने ऊपर से इन गन्दे तुच्छ जीवों को भगा तक नहीं सकते ?" बालक मूलजी के मन में इस प्रश्न ने हलचल मचा दी, क्योंकि उन्होंने सुना था कि शिव, नीलकण्ठ, त्रिलोचन, त्रिशूलधारी, अमित शक्ति के अधिष्ठाता हैं।

मूलजी बालक ही थे। उन्होंने पिता को जगाया और चूहे दिखाकर उन्हें अपनी शंका सुनायी। अधिकांश माता-पिता बालक के कुतूहल पर ध्यान नहीं देते। वे उसे डाँटकर चुप करा देते हैं। यही बात वहाँ हुई। पिता ने बालक को डाँट दिया--'यह शंकर की मूर्त्ति है, स्वयं शिव नहीं है।' इतना उत्तर बालक के लिए पर्याप्त नहीं था; किन्तु पिता के भय से वह वहाँ तर्क नहीं कर सकते थे।

'मैं त्रिशूलधारी शिव के दर्शन करूँगा। मुझे शिव की मूर्त्ति नहीं चाहिए।' यह निश्चय करके मूलजी मन्दिर से चले आये। उनकी व्रत से निष्ठा उठ चुकी थी। घर आकर उन्होंने माता से मांग कर भोजन किया--रात्रि में ही, और माता ने भी वात्सल्यवश यह समझ कर कि बच्चा भूख नहीं सह पाता, भोजन कराया। यह घटना बताती है कि माता बहुत ही पुत्र-स्नेहशीला थी और वे बालक को दु:खी नहीं देख सकती थीं।

उपर्युक्त घटना के पश्चात् मूलजी की पूजा-पाठ में रुचि नहीं रही। यद्यपि पिता बहुत अप्रसन्न हुए किन्तु माता तथा चाचा ने पिता को समझाया कि बालक पढ़ना चाहता है तो उसे विद्योपार्जन में ही लगाना चाहिए।

उस समय देश में विद्या का केन्द्र काशी था। मूलजी चाहते थे कि वे काशी (वाराणसी) जाकर अपना व्याकरण-

पाठ सम्पूर्ण करें और ज्योतिर्विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त करें; किन्तु माता ने स्नेहवश उनको इतनी दूर भेजना स्वीकार नहीं किया।

माता-पिता की आज्ञा लेकर मूलजी पास के गांव में किसी पण्डित के पास चले गए और वहां वे निघण्टु, निरुक्त, मीमांसा आदि शास्त्र पढ़ने लगे; किन्तु पिता ने वहां उन्हें अधिक दिन नहीं रहने दिया। वहां से पिता की आज्ञा से वे घर चले आये। इस समय तक मूलजी की अवस्था सोलह वर्ष हो चुकी थी और उन्होंने कर्मकाण्ड के 'स्मार्त ग्रंथों' का भी कुछ अध्ययन कर लिया था।

मूलजी की विद्या-प्राप्ति की रुचि अत्यन्त प्रबल थी। यद्यपि अनुकूल परिस्थिति उन्हें नहीं मिली; किन्तु वे सदा अध्ययन के लिए उद्योगशील रहे और इस तत्परता ने ही उन्हें आगे उद्भट विद्वान् बनाया।

विरक्ति का उदय और गृह-त्याग

मूलजी कुल पांच भाई-बहिन थे। इनसे छोटी दो बहिनें और दो छोटे भाई थे। सं० १८९६ वि. में जब मूलजी सोलह वर्ष के हो चुके थे, एक घटना और हो गई। उनकी चौदह वर्ष की बहिन और चाचा दोनों विषूचिका (हैज़ा) का शिकार हो गए। दोनों के लिए चिकित्सा उपचार जो भी संभव था, सब हुआ, पर ये दोनों प्राणी न बचाए जा सके।

हृदयविदारक इन मौतों के कारण मूलजी को वैराग्य

हो गया। वे अमरत्वप्राप्ति का उपाय अपने मित्र मण्डल से पूछने लगे। उन्हें जब पता लगा कि योगाभ्यास से अमरत्व प्राप्त होता है तो उनके मन में योगाभ्यास की धुन जागृत हो गई। घर के काम-काज, मोह-ममता में तो योगाभ्यास उन्हें सम्भव नहीं दीखता था, अतः उन्होंने गृहत्याग का निश्चय कर लिया।

मूलजी ने मित्रों में अपने मनोगत भाव प्रकट कर दिये। बात माता-पिता तक पहुँची। पिता ने वही उपाय ठीक माना जो ऐसी अवस्था में प्रायः माता-पिता को सूझता है। अर्थात् मूलजी का शीघ्र विवाह कर देने का उन्होंने निश्चय किया। लेकिन मूलजी ने इसका इतना कड़ा विरोध किया कि पिता को उस वर्ष विवाह की बात छोड़ देनी पड़ी।

सं० १९०० में अपनी बीस वर्ष की अवस्था में मूलजी ने माता-पिता से बार-बार आग्रह करना प्रारम्भ किया कि उन्हें व्याकरण, ज्योतिष तथा वैद्यक पढ़ने काशी जाने दिया जाए। लेकिन माता-पिता—दोनों ने इस बात को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। हां, पुत्र के बार बार आग्रह का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि उन्हें जन्मभूमि से तीन कोस दूर एक वयोवृद्ध विद्वान् के पास पढ़ने के लिए भेज दिया गया।

संयोग की बात, उन वयोवृद्ध विद्वान् के समीप किसी बातचीत के मध्य मूलजी ने कह दिया—'मुझे विवाह से इतनी घृणा है कि वह मेरे मन से किसी प्रकार दूर नहीं होती।' यह बात उनके पिता तक पहुँच गई और पिता ने पुत्र को घर बुला लिया। अध्ययन समाप्त हो गया।

अब पिता शीघ्रतापूर्वक मूलजी के विवाह की तय्यारी करने लगे। घर पर उनके विवाह के वस्त्राभूषण भी बनने

लगे हैं, यह देख कर मूलजी भौंचक्के रह गये। विवाहोत्सव में बन्धु-बान्धवों का समूह एकत्र होने लगा। पूरा परिवार आनन्द-मग्न था। लेकिन मूलजी की चिन्ता का पार नहीं था। उन्हें लगता था कि सब लोग मिल कर उन्हें बन्धन में डालने का उद्योग कर रहे हैं।

अन्त में एक दिन संध्या के समय उस विवाहोत्सव से सुशोभित, धनधान्य से समृद्ध घर को, स्नेहशील माता-पिता तथा स्वजनों को त्याग कर मूलजी घर से निकल पड़े। उन्होंने संकल्प किया—'*अब घर लौटकर नहीं आऊँगा।*' यह सं० १९०३ की बात है और उस समय मूल जी बाईस वर्ष के हो चुके थे।

उधर घर में मूलजी के इस प्रकार लुप्त हो जाने से हाहाकार मच गया। माता रोते रोते मृतप्राय हो गयी। पिता की व्याकुलता का पार नहीं था। बन्धु-बान्धव सभी दुःखी थे। विवाहोत्सव की धूमधाम शोक में बदल गयी। चारों ओर घुड़सवार दौड़ाये गये, स्वजन इधर-उधर भागे; किन्तु मूलजी का पता उस समय नहीं लगना था, नहीं लगा।

साधुओं के सम्पर्क में

शैला-निवासी लाला भक्त योगी के सम्बन्ध में मूलजी ने कुछ सुन रखा था। वे उन्हीं से मिलने जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें एक वैरागियों का दल मिला। अब तक मूलजी स्वर्ण की अंगूठियां पहिने थे और उनके शरीर पर मूल्यवान रेशमी

वस्त्र थे। एक वैरागी साधु ने व्यंग्य किया—"त्यागी बनने चले हो और अंगूठियां छोड़ी नहीं गईं। उस साधु ने प्रस्ताव किया कि अपने आभूषण उसकी मूर्तियों को मूलजी चढ़ा दें। मूलजी को आभूषणों का मोह तो था ही नहीं, अंगूठी आदि आभूषण उस वैरागी को दे दिये और आगे चल पड़े।

लाला भक्त के समीप जा कर वे योगाभ्यास करने लगे। यहीं उन्हें एक ब्रह्मचारी मिले जिन्होंने मूलजी को ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षा देने की प्रेरणा दी। उसे स्वीकार करके मूलजी ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। अब उनका नाम *ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य* हो गया और वे गैरिक वस्त्र पहिनने लगे।

यहां स्मरणीय यह है कि श्री शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित चारों मठों में ब्रह्मचारियों की भिन्न-भिन्न उपाधि होती है। उत्तरमठ की "आनन्द", दक्षिणमठ की "चैतन्य", पूर्वमठ की "प्रकाश" और पश्चिममठ की "स्वरूप" उपाधि हैं। इससे पता चलता है कि मूलजी को दीक्षा देने वाले ब्रह्मचारी दक्षिणमठ की पराम्परा में से थे।

कुछ दिन लाला भक्त के पास रह कर साधना करने के पश्चात् शुद्धचैतन्य जी वहां से कोट गङ्गारा गये। यह स्थान गुजरात में ही अहमदाबाद से कुछ दूर है। उस समय वहां कोई वैरागी साधुओं की मण्डली टिकी हुई थी। उस मण्डली के साथ कोई रानी भी थी। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य जी के गैरिक रेशमी वस्त्रों की वैरागी साधुओं ने हंसी उड़ाई और उन्हें अपने सम्प्रदाय में मिल जाने की प्रेरणा दी।

उन वैरागी साधुओं के आचरण का कोई अच्छा प्रभाव शुद्धचैतन्य जी पर नही पड़ा। इतना अवश्य हुआ कि अपने रेशमी वस्त्र उन्हें ठीक नही लगे। इस समय उनके पास केवल

तीन रुपये थे। उन रुपयों से सूती वस्त्र खरीद कर उन्हें ब्रह्मचारी जी ने रंग लिया और रेशमी वस्त्र वहीं त्याग दिये। वैरागियों के दल से पृथक् रह कर तीन महीने उन्होंने वहीं व्यतीत किये। वहां उन्होंने कार्तिक महीने में सिद्धपुर में होने वाले मेले की चर्चा सुनी। मेले में सम्भव है किन्हीं अच्छे योगी से मिलना हो जाय, इस आशा से वे सिद्धपुर की यात्रा करने निकले।

इस यात्रा के प्रारम्भ में ही शुद्धचैतन्य जी की भेंट एक ऐसे वैरागी साधु से हुई जो उनका पूर्व परिचित था। इनका यह वेश देख कर उस साधु को बड़ा आश्चर्य हुआ। इसी वैरागी साधु ने उनका समाचार मूलजी के पिता के पास भेज दिया। पुत्र का समाचार पाकर वे चार सैनिकों को साथ लिए सिद्धपुर आ पहुंचे और उन्होंने मेले में छानबीन प्रारम्भ कर दी।

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य जी ने सिद्धपुर आकर नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में आसन लगाया था। वे मेले में घूम घूम कर साधुओं का सत्संग कर रहे थे और पता लगा रहे थे कि उनको योग-साधन में मार्ग दर्शन दे सके, ऐसा महात्मा कौन है ?

पता लगाते हुए पिता एक दिन शिव-मन्दिर में शुद्ध-चैतन्य जी के सम्मुख आ खड़े हुए। अपने मूलजी का यह वेश देख कर उन्हें बहुत दुःख हुआ, बड़ा क्रोध आया। उन्होंने इनका गैरिक वस्त्र फाड़ दिया और बहुत खरी-खोटी सुनाई। उन्होंने कहा—'तू मातृ-हत्यारा है ! तेरी माता तेरे वियोग में रोते-रोते मरणासन्न हो गई है। तूने हमारे कुल को दूषित कर दिया।'

पिता के कोप से छुटकारा पाने के लिये शुद्धचैतन्य जी ने छल का आश्रय लिया। वे बोले—'मैंने कुछ धूर्त लोगों के बहकाने से घर छोड़ा। अपने किये का फल मैं पा चुका। मैंने बहुत दुःख उठाये हैं। अब मैं घर चलूंगा।' पिता के चरण पकड़ कर उन्होंने क्षमा मांगी।

उसी समय पिता ने उनके गेरुए कपड़े उतरवा कर उन्हें श्वेत वस्त्र पहिनाये और अपने साथ डेरे पर ले गये। पिता को उनकी बात पर तनिक भी विश्वास नहीं हुआ। दो सिपाही रात-दिन उन पर दृष्टि रखने के लिये नियुक्त कर दिये।

शौच-स्नानादि के लिए भी शुद्धचैतन्य जी अकेले नहीं जा पाते थे। रात्रि में भी एक सैनिक जागता हुआ उन पर पहरा देता था। शुद्धचैतन्य जी ने एक ओर तो पिता को घर चलने का अश्वासन दे दिया था और दूसरी ओर वे अवसर देख रहे थे कि कब निकल जायँ। उनका वैराग्य सच्चा था। उन्हें अमर जीवन प्राप्त करने की सच्ची धुन थी। अतः उन्हें भी रात्रि में निद्रा नहीं आती थी।

रात्रि के तीसरे पहर में उन पर दृष्टि रखने वाले सैनिक को तन्द्रा आ गई। अवसर का लाभ उठा कर शुद्धचैतन्य जी हाथ में जलपात्र ले कर निकल पड़े और सिद्धपुर से आध कोस दूर एक बागीचे में पहुँच गए। बगीचे में एक पुराना मन्दिर था जिस पर एक वट-वृक्ष छाया किये फैला था। वट-वृक्ष की जटा पकड़ कर ब्रह्मचारी जी ऊपर चढ़ गये और मन्दिर के शिखर पर छिप कर बैठ गये।

इधर अब पहरे के सैनिकों को ब्रह्मचारी जी के भाग जाने का पता लगा तो वहां हलचल मच गयी। सैनिक और पिता

जी ने रात्रि में ही दौड़-धूप प्रारम्भ की। वे लोग उस बागीचे में भी पहुँचे जहां ब्रह्मचारी जी छिपे थे; किन्तु मन्दिर के शिखर पर वृक्ष की घनी डालों पर उन्हें कोई देख नहीं सका। पिता कई दिन सिद्धपुर रहे और अन्त में निराश लौट गए। यह शुद्धचैतन्य जी का अन्तिम पितृदर्शन एवं स्वजन-संसर्ग था।

रात्रि का अन्धकार होने पर वे वहां से उतरे और ग्राम-ग्राम विचरण करते हुए अहमदाबाद होकर वड़ौदा पहुँचे और वहां चैतन मठ में रहने लगे।

चैतन मठ उन दिनों अद्वैत शाङ्कर वेदान्त में निष्ठा रखने वाले संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों का एक अच्छा केन्द्र था। वहां के साधु-संग का प्रभाव ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य जी पर पड़ा। वे पक्के वेदान्ती हो गये और 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्-घोष करने लगे। अद्वैत वेदान्त की फक्किकाओं को उन्होंने कण्ठस्थ कर लिया।

चाणोद गुजरात का श्रेष्ठ तीर्थ है और वहां आसपास बहुत प्राचीन समय से साधु-संत रहते आये हैं। उस समय भी वहां अनेक अच्छे संन्यासी महात्मा थे। उनमें से श्री स्वामी चिदाश्रम जी के प्रति ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य जी अधिक श्रद्धापूर्वक आकर्षित हुए। वहां पहुँच कर स्वामी परमानन्द जी से आप ने वेदान्त के कुछ प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन भी किया।

संन्यास-दीक्षा और परिव्रजन

अपनी ब्रह्मचर्य दीक्षा के अनुसार ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य स्वयं-पाकी थे। उन्हें अपने हाथ से बनाने-खाने में, विद्याध्ययन में

बाधा पड़ती थी, अतः उन्होंने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया था। नामादि परिवर्तित हो पाने से उन्हें कोई पहिचान नहीं सकेगा और स्वजनों के आ पहुँचने का भय समाप्त हो जाएगा।

चाणोद से डेढ़ कोस दूर जंगल में एक अच्छे दण्डी संन्यासी के आने का समाचार मिला। वे दण्डी स्वामी श्री पूर्णानन्द सरस्वती थे। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अपने एक मित्र दक्षिणी पण्डित के साथ उन दण्डी स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए और उनके सत्संग से बहुत प्रभावित हुए। उनसे ही संन्यास-दीक्षा लेने का उन्होंने निश्चय किया।

यद्यपि उन दण्डी स्वामी जी ने भी पहिले दीक्षा देना अस्वीकार कर दिया, किन्तु दक्षिणी पण्डित के बहुत अनुरोध करने पर उन्होंने शुद्धचैतन्य जी को संन्यास की दीक्षा देना स्वीकार कर लिया।

मुमुक्षु-व्रत, उपवास, जपादि अनुष्ठान करके दो दिन में ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य जी को विधिपूर्वक संन्यास दीक्षा प्राप्त हुई। गुरुदेव स्वामी पूर्णानन्द तो वहां से द्वारिका चले गये, किन्तु स्वामी दयानन्द कुछ दिन चाणोद ही रहे।

'जिन ढूंढा तिन पाइयाँ' के अनुसार स्वामी दयानन्द को योगाभ्यास तथा विद्याप्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा थी। वे जहां भी विद्वान् या योगी का पता पाते थे, वहीं उसके समीप पहुँच जाते थे। चाणोद के पास व्यासाश्रम में उन्हें महात्मा योगानन्द का पता लगा तो वहां जाकर उन्होंने उनसे कुछ योग की क्रियाएँ सीखीं। फिर सिन्नौर में कृष्ण शास्त्री के समीप जा कर व्याकरण पढ़ते रहे और लौट कर फिर चाणोद आ गये।

इस बार चाणोद-कर्णाली में स्वामी दयानन्द को दो अच्छे

योगी मिल गए। उन लोगों ने भी दयानन्द को अधिकारी समझा। कुछ योग-क्रियाएँ चाणोद में और फिर कुछ अहमदाबाद बुला कर उन्होंने सिखलाईं। वे महात्मा थे—स्वामी ज्वालान्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि। इन के सम्बन्ध में स्वयं स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"*उन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रियासमेत पूर्ण योगविद्या भली-भाँति विदित हो गई। इसलिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।*

वैशाख सं० १९१२ वि० में हरिद्वार में कुम्भ-पर्व पड़ रहा था। उस समय स्वामी दयानन्द भी हरिद्वार पहुँचे। मेले की भीड़-भाड़ से दूर वे चण्डी पहाड़ी पर तथा उसके समीप के जंगल में निवास करते तथा अपनी साधना में लगे रहते। मेले के पश्चात् वे हृषीकेश चले गये और वहां कई महीने रहे।

हृषीकेश में ही एक ब्रह्मचारी तथा दो पहाड़ी साधुओं का संग हो गया और उनके साथ स्वामी दयानन्द ने उत्तराखंड की यात्रा प्रारम्भ की। वे टिहरी (गढ़वाल), श्रीनगर, रुद्र-प्रयाग, शिवपुरी आदि गये। शिवपुरी में उन्होंने शीतकाल व्यतीत किया। अब हिमालय के दुर्गम शिखरों की यात्रा उन्होंने अकेले प्रारम्भ की।

हिमालय की गुफाओं में महान् तपस्वी योगसिद्ध पुरुष रहते हैं; यह बात स्वामी दयानन्द ने भी सुनी थी। वे स्वयं ऐसे किसी सिद्ध की खोज कर रहे थे। इस अन्वेषण में उन्होंने पर्वतीय प्रदेशों में पूछ-ताछ की तथा तुंगनाथ, केदारनाथ, बद्रीनाथ, सतोपंथ की यात्रा की। यह यात्रा बड़ी कष्टप्रद थी। स्वामी दयानन्द के पास वस्त्र बहुत कम थे। वे मार्ग से यात्रा भी नहीं कर रहे थे। शीत का प्रचण्ड कष्ट तो था ही,

जंगलों में कई बार भटके और कांटों से शरीर रक्त से लथपथ हो गया। बद्रीनाथ से आगे अलकनन्दा की धारा को पाँव से पार करते समय तो प्राण ही संकट में पड़ गये।

अनेक अनुभव हुए। श्रद्धालु लोग भी मिले; सेवापरायण पर्वतीय भी मिले; तीर्थों में कुछ योगी-विद्वान् मिले तो कहीं कहीं दम्भ और अनाचार भी देखने को मिला; किन्तु सब कष्ट उठा कर भी हिमालय में कोई सिद्ध योगी स्वामी दयानन्द को नहीं मिले। अवश्य ही ऊखी मठ के महन्त ने अपनी सम्पत्ति का लोभ देकर उन्हें शिष्य बनाना चाहा था; परन्तु जो घर की विपुल सम्पत्ति ठुकरा आया था, वह इन प्रलोभनों में कैसे पड़ता?

उत्तराखण्ड की यात्रा से लौटते हुए स्वामी दयानन्द वसन्त के प्रारम्भ में मुरादाबाद होते हुए गढ़मुक्तेश्वर आ गये। उस समय तक आपके पास हठयोग प्रदीपिका, योगबीज, केशराणी-संगति प्रभृति अनेक योगग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों में शरीर के नाड़ी-चक्र का वर्णन है। यह वर्णन स्वामी दयानन्द की बुद्धि में कभी नहीं समाया; किन्तु किसी विषय को यों ही वे छोड़ देने वाले नहीं थे। संयोगवश गंगा तट पर घूमते हुए उन्हें एक दिन जल में एक मुर्दा बहता दीख पड़ा। वे पुस्तकें तट पर रख कर नदी में कूद पड़े और उस शव को किनारे ले आये। अपने उपकरणों में से एक चाकू लेकर उन्होंने उस मुर्दे को चीर डाला। सावधानीपूर्वक हृदय, नाभि आदि स्थानों को फाड़ कर देखा; किन्तु पुस्तकों में वर्णित नाड़ी-चक्र उन्हें दिखाई नहीं दिया। फलतः, उन पुस्तकों पर से स्वामी जी का विश्वास उठ गया और उन्हें उसी समय उन्होंने गंगा में

प्रवाहित कर दिया। अब योग के सम्बन्ध में भी उनकी आस्था केवल पातञ्जल योगसूत्रों पर रह गई थी।

चैत्र सं० १९१३ में आपके मन में नर्मदा का उद्‌गम स्रोत देखने की इच्छा हुई और आपने यात्रा प्रारम्भ की। बिना मार्ग जाने मध्यप्रदेश के दुर्गम वनों में एकाकी आपने अनेक असहनीय कष्ट झेले। नर्मदा का तटीय वन भी अत्यन्त गहन है। उसमें भयंकर वन्य पशु हैं। ऐसे आरण्य में एकाकी भ्रमण साहस की पराकाष्ठा थी। एक-दो नहीं, पूरे तीन वर्ष पर्यन्त स्वामी दयानन्द जी नर्मदा के किनारे उस दुर्गम प्रदेश में पर्यटन करते रहे। उन्होंने अमर कण्टक में नर्मदा के उद्‌गम से लेकर उसके सभी कठिन वन्य तट की यात्रा की।

गुरुवर स्वामी विरजानन्द के समीप

नर्मदा तट के भ्रमण के समय ही स्वामी दयानन्द ने दण्डी स्वामी विरजानन्द की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी। इसलिए उनके दर्शन करने मथुरा चले आये। स्वामी दयानन्द की विद्वत्ता एवं उनकी प्रेरणा के मूल स्रोत स्वामी विरजानन्द ही हुए। सच्चे अर्थ में वही स्वामी दयानन्द के गुरु हैं, अतः यहां थोड़ा-सा परिचय स्वामी विरजानन्द का भी देना अच्छा होगा।

कहा जाता है कि पंजाब प्रान्त में कपूरथला के समीप किसी ग्राम में स्वामी विरजानन्द का जन्म हुआ था। वे भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। पाँच वर्ष की अवस्था

में ही शीतला (चेचक) के प्रकोप से उनकी नेत्रज्योति चली गयी थी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में माता-पिता का भी देहान्त हो गया। मातृ-पितृहीन अन्धे छोटे भाई को बड़े भाइयों ने जब अनेक प्रकार से कष्ट देना प्रारम्भ किया तो वे घर छोड़ कर निकल पड़े।

ऐसा लगता है कि गृहत्याग के पश्चात् ही स्वामी विरजानन्द ने परमहंस वृत्ति धारण कर ली थी। घर से वे हृषिकेश आये। यहां गंगा के शीतल जल में देर तक बैठ कर गायत्री-जप किया करते थे। हृषिकेश से वे कनखल आए और वहां स्वामी पूर्णानन्द से आपने व्याकरण पढ़ा।

अध्ययन समाप्त करके स्वामी विरजानन्द पर्यटन को निकले। उनमें जन्मजात अद्‌भुत प्रतिभा थी। अनेक तीर्थों में घूमते हुए वे सोरों पहुँचे। यहां अलवर नरेश महाराज विनयसिंह से उनका मिलना हुआ। महाराज आपकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और आग्रहपूर्वक आपको अलवर ले गये। अलवर में आपके लिए सब प्रकार की सुव्यवस्था महाराज ने कर दी। प्रतिदिन महाराज आपसे नियमपूर्वक अध्ययन करते थे। एक दिन अध्ययन के समय स्वामी जी राजमहल में पहुँच गये; किन्तु महाराज नृत्य-गायन देखने में लगे रहे। इससे खिन्न होकर आप अपने ग्रन्थ भी वहीं छोड़ कर सोरों चले आए। इससे पता लगता है कि आप बहुत ही स्वाभिमानी संन्यासी थे।

कुछ दिनों पीछे स्वामी विरजानन्द ने मथुरा में अपना निवास बना लिया। उनके भोजनादि के व्यय की व्यवस्था अलवर नरेश महाराज विनयसिंह तथा जयपुर के महाराज रामसिंह की ओर से होती थी।

स्वामी विरजानन्द बहुत कम अन्नाहार करते थे; प्राय: दूध पीते थे। रात्रि में थोड़ी ही देर सोते थे। उनका अधिकांश समय विद्यार्थियों को अध्यापन करने में ही व्यतीत होता था। उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी ही, स्मरणशक्ति भी विलक्षण थी। एक-दो बार सुन कर ही वे ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेते थे। विद्वन्मण्डली में दूर दूर तक उनकी ख्याति थी।

स्वामी विरजानन्द सरल स्वभाव के निष्कपट, स्पष्टवक्ता, विद्याव्यसनी साधु थे। उन्हें पुराणों से तथा व्याकरण के पण्डितों द्वारा रचे ग्रन्थों से तीव्र चिढ़ हो गयी थी। उनकी पाठशाला में कोई अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाता था। उलटे कौमुदी, मनोरमा, शेखर आदि व्याकरण ग्रन्थों की वे निन्दा करते और अपने विद्यार्थियों में इन ग्रन्थों की ओर से उपेक्षा जागृत करते थे। वे निघण्टु, निरुक्त तथा अष्टाध्यायी पढ़ाते थे। वेदों को पढ़ने की बहुत प्रेरणा देते थे।

कार्तिक शुक्ल २ सं० १९१७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मथुरा में प्रवेश किया और सीधे वे दण्डी स्वामी विरजानन्द की अट्टालिका पर पहुँचे। दण्डी स्वामी जी ने कुछ पूछताछ की और उन्हें अध्ययन कराना स्वीकार कर लिया। स्वामी दयानन्द जी को अपने रहने और भोजन की व्यवस्था स्वयं करनी थी।

उस समय देश में अकाल का कोप था। बहुत दिनों तक स्वामी दयानन्द को कुछ चनों पर ही निर्वाह करना पड़ा। पीछे अमरलाल नामक एक ज्योतिषी ने अपने यहां उनके भोजन का प्रबन्ध कर दिया। रहने के लिए विश्रामघाट के

ऊपर लक्ष्मी नारायण जी के मन्दिर के नीचे की एक कोठरी स्वामी दयानन्द को मिली। वह कोठरी इतनी छोटी है कि उसमें कठिनता से ही कोई पैर फैला कर सो सकता है। दण्डी स्वामी जी ने उन्हें अब तक पढ़े सब अनार्ष ग्रन्थ भूल जाने को कह दिया था और महाभाष्य पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था।

स्वामी दयानन्द का अध्ययन कालीन जीवन कठोर तप, त्याग, संयम एवं गुरुसेवा का जीवन था। स्वामी विरजानन्द यमुना का जल ही पीते थे और यमुना जल के कई घड़ों से बड़े सवेरे स्नान करते थे। यह सब जल स्वामी दयानन्द ही कुछ रात्रि रहते स्वयं भरते थे। गुरु के स्थान की स्वच्छता तथा दूसरी छोटी-बड़ी सेवा भी वे करते थे। इसके साथ ही रात्रि में भी पढ़ते थे और अपना नियमित सन्ध्या, जप, आसन-प्राणायाम भी अप्रमत्त रह कर पूरा करते थे।

दण्डी स्वामी विरजानन्द अपने शिष्यों पर कठोर अनुशासन रखते थे। यद्यपि स्वामी दयानन्द पर उनका अपार स्नेह था और ऐसा मेधावी शिष्य उन्हें प्रथम ही मिला था; किन्तु वे इन्हें भी झिड़कने तथा पीट देने में हिचकते नहीं थे। एक बार का पढ़ाया पाठ वे कदाचित ही दुबारा पढ़ाते थे। एक बार तो एक पाठ भूल जाने पर उन्होंने स्वामी दयानन्द को लगभग अपने यहां से निकाल ही दिया था; किन्तु प्रबल एकाग्रता के द्वारा स्वामी जी ने वह पाठ स्मरण कर लिया और तब उन्हें गुरुदेव के समीप प्रवेश प्राप्त हुआ।

कई बार दण्डी स्वामी जी ने स्वामी दयानन्द को लाठी से पीट दिया। एक बार तो इतना गम्भीर प्रहार इनकी

भुजा पर किया कि उसका चिह्न भुजा पर जीवन भर बना रहा। लेकिन स्वामी दयानन्द ने जीवन भर उस चिह्न को गुरु की कृपा का प्रतीक माना। गुरुदेव के द्वारा पीटे जाने पर तथा भर्त्सना किये जाने पर भी उनके मन में गुरु के प्रति अडिग श्रद्धा बनी रही और इस सब ताड़ना को भी वे गुरु का अनुग्रह समझ कर चुपचाप प्रसन्नतापूर्वक सहन करते रहे।

इस समय स्वामी दयानन्द की अवस्था ३५ वर्ष की हो चुकी थी। वे प्रतिदिन गुरुदेव के लिए बीसों घड़े जल भरते तथा उनके ब्रह्मचर्य के संयम को देख कर लोग उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे।

दण्डी स्वामी विरजानन्द ने भी अपने इस श्रद्धालु शिष्य को अपनी समस्त विद्या देने में कोई कृपणता नहीं की। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्त सूत्रादि ग्रन्थों का अध्ययन सम्पूर्ण करके स्वामी दयानन्द ने देश-भ्रमण की इच्छा की। स्वामी विरजानन्द वैसे भी अपने शिष्यों से द्रव्य नहीं लेते थे और इनके पास देने को धरा भी क्या था? ये कुछ लौंग लेकर गुरुदेव के चरणों में पहुँचे।

विदा देते समय स्वामी विरजानन्द ने अपने सुयोग्य शिष्य से कहा—"दयानन्द! मुझे लौंग नहीं चाहिए। मुझे जो गुरु-दक्षिणा चाहिए, वह तुम्हीं दे सकते हो। मैं चाहता हूँ कि तुम देश के अज्ञान को दूर करो। कुरीतियों का निवारण करो। जिन ग्रन्थों में परमात्मा एवं ऋषि-मुनियों की निन्दा है, उनका त्याग कर आर्षग्रन्थों का प्रचार करो। वैदिक ग्रन्थों के पठन पाठन में लोगों को लगाओ। गंगा-यमुना के प्रवाह की भांति लोकहित की कामना से क्रियाशील जीवन व्यतीत करो। यही मेरी गुरुदक्षिणा है।"

स्वामी दयानन्द ने गुरुदेव के आदेश को सादर स्वीकार किया। उन्होंने गुरु-आज्ञा-पालन का वचन दिया। इस प्रकार गुरुदेव का आशीर्वाद एवं प्रेरणा प्राप्त करके वे लोक-हित में प्रवृत्त हुए। एक अन्धे संन्यासी ने इस प्रकार समाज को वह दिव्य ज्योति दी जिसका प्रकाश सदा अमर रहेगा और सदा लोगों का मार्ग-दर्शन करता रहेगा।

कर्मक्षेत्र में

अध्ययन समाप्त करके स्वामी दयानन्द मथुरा से आगरा आये। यहां वे प्राय: दो वर्ष एक बागीचे में रहे। सुना जाता है कि इस समय वे घण्टों समाधिस्थ रहते थे। आगरा रहने के समय वे प्राय: शास्त्रार्थ नहीं करते थे। जो लोग उनके पास आते थे, उनसे ही विचार-विनिमय करते तथा उन्हें उपदेश देते थे।

इस समय तक स्वामी दयानन्द वैष्णवमत का खण्डन तथा शैवमत का समर्थन करते थे। स्मरणीय रहे कि वे शांकर-सम्प्रदाय में दीक्षित संन्यासी थे और तब तक भस्म एवं रुद्राक्ष धारण करते थे। आगरा से वे ग्वालियर गए और वहां से करौली होते हुए जयपुर आये। यहाँ हरिश्चन्द्र नामक पण्डित से शास्त्रार्थ करने में उन्होंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैवमत का प्रतिपादन किया। इस विजय से स्वामी दयानन्द का सुयश विस्तीर्ण हुआ। स्वयं जयपुर महाराज शैव हो गये। स्वामी दयानन्द इन दिनों रुद्राक्ष की माला वितरित किया करते थे।

लेकिन शैवमत का प्रचार तथा समर्थन करते हुए भी स्वामी दयानन्द उसमें आस्थावान् नहीं थे। वे इस मत के सम्बन्ध में भी संदिग्ध थे। जयपुर से वे पुष्कर गये और फिर जब जयपुर नरेश ने उन्हें वृन्दावन साथ ले जाना चाहा तो उन्होंने बता दिया कि "शैवमत में भी मेरी आस्था नहीं है।" इसके कुछ दिन पीछे वे अपना सन्देह-निवारण करने मथुरा स्वामी विरजानन्द के समीप आये।

यह सब होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि स्वामी दयानन्द बड़े ही सरल तथा निर्भीक व्यक्ति थे। उन्हें जब जो बात सत्य प्रतीत हुई, उसे स्वीकार करने में उन्होंने कभी हिचक नहीं दिखायी। सत्य को स्वीकार करने में उन्हें अपनी निन्दा का भय भी कभी नहीं लगा। आगे उन्होंने "आर्य-समाज" की स्थापना की तो वहां भी यही सिद्धान्त सर्वोपरि रखा कि—'*असत्य के त्याग तथा सत्य को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत रहो।*'

इस बार स्वामी विरजानन्द से मिल कर उनके सब सन्देह दूर हो गए थे। वे मूर्त्तिपूजा मात्र के विरुद्ध और वेदों की प्रतिष्ठा करने का दृढ़ व्रत ले चुके थे। इसके बाद फिर स्वामी विरजानन्द से उनका मिलना नहीं हुआ। ९१ वर्ष की अवस्था में आश्विन कृष्ण त्रयोदशी सोमवार सं० १९२५ को प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द का शरीरान्त हो गया।

जब स्वामी दयानन्द हरिद्वार पहुँचे तो वहां कुम्भपर्व था। इस अवसर को उन्होंने अपने प्रचार के लिए उपयुक्त माना और जिस कुटिया में वे ठहरे, उस पर एक झण्डा लगा दिया। झण्डे पर 'पाखण्ड-खण्डनी पताका' उन्होंने लिख रखा था।

इस पताका ने बहुत लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। अनेक लोग आये और उनसे वार्तालाप करके स्वामी दयानन्द को अपने विचारों का प्रचार करने का अवसर प्राप्त हुआ।

स्वामी जी ने इस मेले में जनता का अज्ञान और विद्वानों की स्वार्थ-लिप्सा देख कर विचार किया कि अन्य साधुओं की भांति रहने से काम नहीं चलेगा। अतः, 'सर्वं वै पूर्णँ स्वाहा' कह कर उठ खड़े हुए और जो कुछ उनके पास वस्त्र तथा पुस्तक आदि थी, सभी कुछ बांट दिया। सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगा कर मौनव्रत लेकर वे उसी कुटी में निवास करने लगे।

एक बार उनकी कुटी में एक वैष्णव आ गए और भागवत धर्म का माहात्म्य सुनाने लगे। स्वामी दयानन्द को भागवत धर्म से चिढ़ हो गई थी और वे अत्यन्त तर्कशील थे ही, अतः उनका मौन उसी दिन भंग हो गया और वे पुनः शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हो गये।

हरिद्वार में उपर्युक्त मौनभंग के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने गम्भीरतापूर्वक अपने मत पर विचार किया और फिर प्रचार के उद्देश्य से निकले। कम्पिल, कायमगंज होते वे फर्रुखाबाद आये। इस समय वे मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते थे। और ब्राह्मणों को गायत्रीजप का उपदेश देते थे।

फर्रुखाबाद में स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से सर्वप्रथम वैदिक पाठशाला स्थापित हुई। इसके पश्चात् तो स्वामी जी कासगंज, जलेसर तथा मिर्जापुर में भी वैदिक पाठशालाओं की स्थापना कराने में समर्थ हुए। फर्रुखाबाद से स्वामी जी रामगढ़ आये। यहां पण्डितों ने उनका सामूहिक विरोध

किया। उनका नाम ही पण्डितों ने यहां "कोलाहल" रख दिया। यहां भी स्वामी जी को मार देने का प्रयत्न कुछ दुष्ट प्रकृति लोगों ने किया; किन्तु उनके षड्यन्त्र से बच कर स्वामी जी फर्रुख़ाबाद चले आये। फर्रुख़ाबाद में वैदिक पाठशाला कुछ अव्यवस्थित हो रही थी, उसको पुनः सुव्यवस्थित करना पड़ा और स्वामी जी ने उसका स्थान परिवर्तन भी किया।

एक धुनिया नित्य महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ करता था। वह था अनपढ़, परन्तु उसमें श्रद्धा बहुत थी। उसने पूछा कि मुझ अज्ञानी जीव के कल्याण की भी कोई विधि है। स्वामी जी ने 'ओ३म्' के जप का आदेश दिया और कहा कि व्यवहार में सच्चे रहो। जितनी रुई कोई धुनने को दे उसे उतनी ही रुई धुन के लौटा दो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

बुलन्दशहर के कलक्टर ने महाराज से मिलने की इच्छा की तो स्वामी जी ने कुटिया से कहला भेजा कि उन्हें इस समय मिलने का अवकाश नहीं है। कलक्टर साहिब ने पुछवाया कि आपको कब अवकाश होगा, तो स्वामी जी ने कहला भेजा कि आपको कब अवकाश होगा। कलक्टर साहब ने कहा कि चार घण्टे के बाद मुझे अवकाश ही अवकाश है। स्वामी जी यह सुन कर कुटिया से बाहिर निकल आए और कलेक्टर साहब को आसन देकर राजधर्म का उपदेश किया और कहा कि जिस मनुष्य पर एक परिवार के भरण-पोषण का भार होता है, उसे सिर खुजलाने का अवकाश नहीं मिलता, आप पर तो सहस्रों मनुष्यों के संकट-निवारण का भार है।

इसी समय प्रयाग के महादेव प्रसाद नामक एक व्यक्ति ने एक विज्ञापन प्रचारित किया था कि तीन महीने में पण्डित लोग यदि हिन्दूधर्म का श्रेष्ठत्व उन्हें नहीं समझा देते तो वे ईसाई हो जायेंगे। स्वामी दयानन्द इस विज्ञापन का समाचार पाकर प्रयाग गये। उनके सत्संग से महादेव प्रसाद की वैदिक धर्म में श्रद्धा हो गई और उन्होंने क्रिश्चियन होने का विचार त्याग दिया।

प्रयाग से स्वामी दयानन्द काशी पधारे। काशी प्राचीन काल से संस्कृत विद्या का केन्द्र है। स्वामी जी की इच्छा काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ करने की थी। उन्होंने स्वयं पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। काशी में उनके आने से पर्याप्त हलचल मची। मूर्त्तिपूजा का खण्डन काशी के विद्वानों के लिए असह्य था। अन्तत:, काशीनरेश के सभापतित्व में शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ।

इस शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द ने केवल वेदों को प्रमाण मानना स्वीकार किया था। ऐसे शास्त्रार्थों में सत्य का निर्णय कदाचित् ही होता है। होता यह है कि प्रत्येक पक्ष अपने आग्रह पर स्थिर रहता है और अनेक प्रकार के छल करके विपक्ष को पराजित घोषित करता है। यही बात इस शास्त्रार्थ में भी हुई हो तो आश्चर्य नहीं। इसके पश्चात् दोनों ओर से भी परस्पर विरोधी बातें छपती रहीं। शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी दयानन्द एक मास तक काशी रहे और मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते रहे। उनका काशी में डटे रहना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उनका पक्ष सबल रहा और पण्डितों ने छल से विजय घोषणा की थी। स्वामी जी ने इसके बाद भी पांच बार काशी में पधार कर पण्डितों को चैलेन्ज पर चैलेन्ज

दिया, पर किसी की सामने आने की हिम्मत नहीं पड़ी। उन्होंने काशी में एक उच्च वेद-विद्यालय स्थापित करने का प्रयत्न किया; किन्तु वातावरण ठीक न होने से सफलता नहीं मिली और वे प्रयाग लौट आये।

प्रयाग में कुम्भ के मेले पर स्वामी जी ने प्रचार का कार्य किया। यहीं श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर से परिचय हुआ और उन्होंने उन्हें कलकत्ते आने का निमन्त्रण दिया। प्रयाग में मोतीराम नाम के एक तार्किक, परन्तु नास्तिक, को स्वामी जी ने अपनी अकाट्य युक्तियों से आस्तिक बना दिया।

प्रयाग से स्वामी जी कलकत्ता पधारे। वे वहाँ राजा सुरेन्द्रमोहन ठाकुर के उद्यान में नगर से बाहर ठहरे, क्योंकि नगरों में वे प्रायः कम ही रुकते थे। कलकत्ते की यात्रा में स्वामी जी की अनेक स्थानों पर वक्तृताएँ हुईं। वे संस्कृत में ही बोलते थे किन्तु उनकी संस्कृत इतनी सरल होती थी कि संस्कृत न जानने वाले भी उसे सुगमता पूर्वक समझ लेते थे।

कलकत्ते में अनेक विख्यात विद्वानों के साथ स्वामी जी का वार्तालाप हुआ और प्रायः सबने उनकी विद्वत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन दिनों श्री केशवचन्द्र सेन, श्री राज नारायण वसु तथा श्री द्विजेन्द्र नाथ ठाकुर जैसे देश-प्रसिद्ध व्यक्ति स्वामी दयानन्द के समीप आते थे और उनके सत्संग का लाभ उठाते थे। श्री केशवचन्द्र सेन ने आग्रहपूर्वक स्वामी जी को अपने घर आमान्त्रित किया और वहां उनका प्रवचन कराया। श्री केशवचन्द्र सेन का हिन्दी भाषा में बोलने और वस्त्र धारण करने का प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार कर लिया।

श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वामी जी को ब्राह्मसमाज के माघोत्सव में आमन्त्रित किया। उनके आग्रह को स्वीकार

करके स्वामी जी उस उत्सव में गए और वहां उन्होंने प्रवचन किया।

कलकत्ते में विद्वानों से सम्पर्क हुआ; ब्राह्मसमाज के कर्णधारों से सम्मान प्राप्त हुआ; अंग्रेजी-पठित समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठा मिली; किन्तु स्वामी दयानन्द के वैदिक विद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव पर कलकत्ता के लोगों ने उत्साह नहीं दिखाया। कलकत्ता आने के पूर्व स्वामी जी बालुचर स्थान (मुर्शिदाबाद) में कुछ दिन रह आये थे, कलकत्ते से वे हुगली गए थे; फिर जो लौटे तो दुबारा वे बंगाल नहीं गये।

प्रचार कार्य का द्वितीय दौर

स्वामी दयानन्द बंगाल से बिहार में छपरा आये। छपरा के शिवगुलाम नामक जमींदार ने उनका सत्कार किया और उनके रहने आदि का प्रबन्ध किया। छपरा में पं० जगन्नाथ की विद्वत्ता का सिक्का बैठा हुआ था। जब उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया, तो उसने दयानन्द को नास्तिक कह कर उनका मुख देखने से प्रायश्चित्त का बहाना किया। अन्ततः, स्वामी जी के कहने पर बीच में परदा किया गया परन्तु शास्त्रार्थ में पण्डित जी कुछ बोल न सके। अतः उनके इशारे से गुण्डों ने गड़बड़ी मचा दी। तत्पश्चात् स्वामी जी छपरा में व्याख्यान द्वारा प्रचार करते रहे। स्वामी जी उस समय वस्त्र धारण करने लगे थे।

बिहार में छपरा से दानापुर, डुमराँव होते स्वामी जी मिर्जापुर पहुँचे और वहां स्थापित पाठशाला का प्रवन्ध देख कर उन्होंने उसे तोड़ दिया। मिर्जापुर से स्वामी जी काशी आ गए। काशी में अपने प्रथम प्रयास में वे वैदिक पाठशाला की स्थापना नहीं करा सके थे; किन्तु इस संकल्प का त्याग उन्होंने नहीं किया था। काशी जैसे संस्कृत विद्या के केन्द्र में वैदिक पाठशाला होनी ही चाहिए, यह उनका दृढ़ निश्चय था। काशी के प्रसिद्ध पं० जवाहरदास उदासी के उद्योग से पौष कृष्ण २ सम्वत् १९३० में काशी में वैदिक पाठशाला की स्थापना हो गई। उसके अध्यापन कार्य के लिए प्रथम विख्यात पण्डित शिवकुमार शास्त्री नियुक्त हुए। इस पाठशाला की व्यवस्था के लिए स्वामी जी ने अनेक स्थानों में चन्दा करके धन-संग्रह किया था।

काशी में ही स्वामी जी का सर सैय्यद अहमद खाँ से परिचय हुआ। कई स्थानों पर घूमते हुए स्वामी जी पुनः काशी आए और वहां से प्रयाग आ गए। प्रयाग में इस बार अनेक ईसाई, जिनके प्रमुख श्री नीलकण्ठ थे, एवं मुसलमान विद्वानों ने भी स्वामी जी से सम्पर्क स्थापित किया। उनके वार्तालाप का फल यह हुआ कि स्वामी जी ने क्रिश्चियन एवं इसलाम में वर्णित पौराणिक कथाओं जैसी बातों का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया।

वेद ईश्वरीय वाणी है। सम्पूर्ण ज्ञान का मूल वेदों में है। एक मात्र वेद ही प्रमाण हैं। वेदों की जो व्याख्यायें हुई हैं; वे प्रायः भ्रान्त तथा भ्रष्ट हैं? यह स्वामी दयानन्द जी का दृढ़ मत था। उनके चित्त में एक ही प्रवल चिन्ता थी—'देश के लोगों का उद्धार कैसे हो। अनेक अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों में ग्रस्त

हिन्दूसमाज कैसे जागृत हो और वेदों की प्रतिष्ठा कैसे स्थापित की जाय।'

अपने इसी उद्योग में स्वामी जी लोगों से मिलते थे, प्रवचन करते थे, यात्रायें करते थे। उस समय समाज में स्थान-स्थान पर संस्कृत के पण्डितों की प्रधानता थी। जन-साधारण के लिए अपने समीप के प्रख्यात पण्डित का वचन ही परम प्रमाण था। ऐसी अवस्था में इन पण्डितों को या तो शास्त्रार्थ में पराजित करके जनता में जो उसके प्रति विश्वास था, उसे दूर करना उपाय था अथवा सम्भव हो तो उस पण्डित को विचार-विनिमय द्वारा अपने पक्ष में लाना था।

दूसरा मार्ग बहुत कठिन था और बहुत कम स्थानों में सफल हुआ; क्योंकि जनता में जो प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं वे लोग किसी अन्य को अपने से श्रेष्ठ जानकर भी कदाचित् ही उसका श्रेष्ठत्व स्वीकार करते हैं। अपनी प्रतिष्ठा जिस किसी प्रकार बनाये रखने में ही उनका प्रयत्न रहा करता है।

पहिला मार्ग पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का था। स्वामी दयानन्द यही करते थे; किन्तु यह भी कोई सफल मार्ग नहीं था। बहुत कम विद्वान् ईमानदारी से शास्त्रार्थ करते थे। अन्यथा वे नाना प्रकार के छल का आश्रय लेते थे। शास्त्रार्थ करने से बचते थे और स्वामी दयानन्द की निन्दा तथा उनका विरोध करने में प्रवृत्त होते थे। लेकिन पण्डितों के प्रबल-विरोध ने स्वामी जी को हतोत्साह नहीं किया। वे अपने उद्योग में पूरे उत्साह से लगे रहे।

प्रयाग में इस बार स्वामी जी थोड़े ही दिन ठहरे। वे वहां से सम्भवतः अक्तूबर सन् १८७४ ई० में जबलपुर गए। लेकिन जबलपुर में पंडितों का प्रबल विरोध रहा। जबलपुर में कुछ दिन रहने के उपरान्त नासिक तथा पंचवटी होते वे २६ अक्तूबर सन् १८७४ को बम्बई पहुँच गए।

स्वामी दयानन्द प्रायः जिस नगर में जाते थे, वहां विज्ञापन प्रसारित करते थे, शास्त्रार्थ की चुनौती देते थे। बम्बई में भी उन्होंने ऐसा ही किया। फ्रामजी काउसजी हाल में दो व्याख्यान दिए। पहले व्याख्यान में जनसमूह बहुत अधिक हो गया, उससे लाभ उठाकर शरारती तत्त्वों ने कुछ झगड़ा भी किया, अतः दूसरा व्याख्यान टिकट लगा कर किया गया। पं० गट्टूलाल, जो कि संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, को उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, परन्तु पण्डित जी शास्त्रार्थ से बचने के लिए चालें चलते रहे।

यहां पर ही डाक्टर सर भण्डारकर और पं० विष्णु परशुराम शास्त्री दोनों, 'प्रार्थना-समाज' के संस्थापकों से स्वामी जी का परिचय हुआ।

आर्य समाज की स्थापना

स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिए वैदिक पाठशालायें तो कई स्थानों पर स्थापित की थीं; किन्तु उन पाठशालाओं से उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो रहा था। अतः वे किसी नवीन उपाय का चिन्तन करने लगे थे।

सम्भवत: कलकत्ते में ब्राह्म-समाज के सम्पर्क में आने के पश्चात् ही स्वामी जी के मन में अपने उद्देश्य के अनुरूप एक समाज-संस्था की स्थापना की बात आने लगी थी; किन्तु इस विषय में वे पर्याप्त समय तक विचार करते रहे कि ऐसा करना ठीक है या नहीं और उससे वैदिक धर्म का प्रचार होगा भी या नहीं। अन्तत:, एक संगठन की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव कर लिया। अब वे इस संगठन के लिए उपयुक्त स्थान की खोज करने लगे।

बम्बई से स्वामी जी सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद होते हुए राजकोट पहुँच गए। वहां स्वामी जी के आठ व्याख्यान हुए। उनके प्रभाव से वहां के प्रार्थना-समाज को आर्य समाज का नाम दे दिया गया। यद्यपि राजकोट की आर्य समाज सबसे पहले स्थापित हुई, पर वह पाँच-छ: मास से अधिक देर रह न सकी। राजकोट से स्वामी जी पुन: अहमदाबाद आ गए और वहां उन्होंने आर्य समाज की स्थापना का प्रस्ताव किया।

बंगाल के ब्राह्म-समाज के समान प्रार्थना-समाज भी नवपठित लोगों की एक सुधारक संस्था थी। उसके तत्कालीन संचालक साराभाई एवं रूपाराम जी ने स्वामी जी के प्रस्ताव को सहानुभूतिपूर्वक सुना और उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया।

स्वामी दयानन्द चाहते थे कि प्रार्थना-समाज का नाम 'आर्य-समाज' कर दिया जाय और वेद परम प्रमाण हैं, यह स्वीकार कर लिया जाय। प्रार्थना-समाज तथा प्रस्तावित आर्य-समाज के उद्देश्य लगभग समान थे। वेदों को प्रार्थना-समाज के लोग अभ्रान्त रूप से परम प्रमाण नहीं मानते थे,

किन्तु उन्हें अद्वितीय धर्मशास्त्र मानते थे, अतः वैदिक भाव की प्रतिष्ठा रह जाती थी। लेकिन व्यक्तियों का अपने दिये नामों में कब आग्रह नहीं रहा है। स्वामी दयानन्द का प्रस्ताव अन्ततः स्वीकृत नहीं हुआ। इससे स्वामी जी अहमदाबाद से बम्बई लौट आये। इस बार बम्बई में स्वामी जी ने व्याख्यानों की झड़ी लगा दी। एक दिन व्याख्यान होता और एक दिन शंकासमाधान।

बम्बई में स्वामी जी को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। एक समुदाय उनके साथ हो गया, जिसमें सेवकलाल, कृष्णदास प्रभृति मुख्य व्यक्ति थे। यह पूरा समुदाय यह आग्रह करने लगा कि वैदिक धर्म के विस्तार के लिए कुछ ठोस कार्य होना चाहिए।

स्वामी जी के द्वारा सञ्चालित आन्दोलन किस उपाय से स्थायित्व प्राप्त करे, इस विषय में विचार करने पर पूर्व संकल्पित सभा की स्थापना करने का निश्चय हुआ। इसके अनुसार १० एप्रिल सन् १८७५ ई० को गिरगाँव रोड बम्बई में प्रार्थना समाज के मन्दिर के निकट डाक्टर मणिकजी बागबाड़ी में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तावित 'आर्य समाज' की स्थापना हुई। इस सभा के प्रथम सभापति श्री गिरधारी-लाल, दयालदास कोठारी हुए और कृष्णदास को मन्त्री चुना गया। केवल २३ व्यक्ति उस समय समाज के सदस्य हुए थे। *स्वामी दयानन्द ने लोगों के आग्रह करने पर भी कोई पद स्वीकार नहीं किया*। अपने द्वारा स्थापित आर्य समाज के वे मात्र एक सदस्य ही रहे।

आर्य-समाज की स्थापना हो जाने पर स्वामी दयानन्द ने उसके लिए २८ नियम बनाये। इनके अतिरिक्त सभापति

महोदय ने मन्त्री के सहयोग से उपनियम प्रस्तुत किये ।

श्री महादेव गोविन्द रानाडे एवं श्री कुन्ते के विशेष निमन्त्रण पर स्वामी दयानन्द १ जुलाई सन् १८७५ ई० को पूना गए । महादेव गोविन्द रानाडे उन दिनों पूना में जज थे, पीछे आकर बम्बई हाईकोर्ट के जज बन गए। पूना में स्वामी जी का बड़े उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। लगभग चालीस दिन तक वहां स्वामी जी का प्रवचन होता रहा । इस यात्रा में स्वामी दयानन्द की रानाडे महोदय के साथ मैत्री हो गई और यह मित्रता जीवन-पर्यन्त बनी रही ।

पूना से स्वामी जी सातारा गए और वहां से लौटते हुए पूना होकर बम्बई आ गये । इस बार बम्बई स्टेशन पर उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ । बम्बई में ही स्वामी जी का प्रोफेसर मोनियर विलियम्स से कुछ देर संस्कृत में ही वार्तालाप हुआ ।

बम्बई को अपने कार्य का केन्द्र बनाकर स्वामी दयानन्द इन्दौर, बड़ौदा, पूना, अहमदाबाद, सातारा, सूरत आदि नगरों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए लगभग दो वर्ष रहे । वहां से वे सन् १८७६ ई० में फर्रुख़ाबाद आये ।

ग्रन्थप्रणयन का प्रारम्भ

स्वामी विरजानन्द अनार्ष ग्रन्थों के प्रबल विरोधी थे । उनका मत था कि अनार्ष ग्रन्थों के विलुप्त होने में ही देश का मंगल है । उनके इस मत का प्रभाव स्वामी दयानन्द पर भी खूब

पड़ा था। परन्तु स्वामी जी को भी यह आवश्यक प्रतीत होता था कि वेदों की व्याख्या आर्ष पद्धति के अनुसार हो। क्योंकि वेदों की जो व्याख्या सायण, उव्वट, महीधर की उपलब्ध थी, उससे स्वामी दयानन्द सर्वथा असहमत थे। वेदों का प्रचार बढ़े और उनकी ठीक व्याख्या हो, यह उनकी प्रबल इच्छा थी।

सम्वत् १९३० में, अर्थात् सन् १८७३ से पहले स्वामी जी ने जितने लघु ग्रन्थ लिखे थे, वे संस्कृत में ही थे। पश्चात् उन्होंने भीमसेन शर्मा के सहयोग से सत्यार्थप्रकाश, आर्याभि-विनय, संस्कार विधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, पञ्चमहायज्ञ विधि, वेदाङ्गप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका आदि ग्रन्थ लिखे। इसके साथ ही यजुर्वेद का पूर्ण भाष्य और ऋग्वेद का भाष्य, जो कि उनके जीवनकाल में पूर्ण न हो सका, किया।

जैसे ब्राह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने अपने को नवीन धर्म के संस्थापक होने से बार-बार इनकार किया है, वे अपने को आर्य धर्म को पुनरुद्दीप्त करने वाला ही घोषित करते हैं, उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने भी बार-बार घोषित किया है कि वे किसी नूतन मत का प्रतिपादन नहीं करना चाहते हैं। वे वेद प्रतिपादित अनादि आर्यधर्म को ही प्रतिपादित करते हैं और वे केवल उन बातों को दूर करना चाहते हैं, जो उन्हें वैदिक मत के विपरीत प्रतीत होती हैं।

अपने वेदभाष्य के सम्बन्ध में भी उनका स्पष्ट मत है—'मैं प्राचीन आर्यरीति का अवलम्बन करके ही इस वेदभाष्य की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह भाष्य ऐतरेय और शतपथादि व्याख्या ग्रन्थों के अनुकूल होगा; इसमें कोई अप्रामाणिक बात नहीं होगी।'

स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य करने का संकल्प कर लिया तो उव्बट, महीधर, सायण आदि प्राचीन वेदभाष्यों के साथ विल्सन, मैक्समूलर आदि के पाश्चात्य वेद भाष्यों को भी अध्ययन करने की आवश्यकता हुई। यह इसलिए भी आवश्यक था; क्योंकि भारतवर्ष का पाश्चात्य शिक्षा में नवशिक्षित समाज पाश्चात्य विद्वानों की बातों को बहुत अधिक महत्त्व देने लगा था। अतएव पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए वेदार्थ की आलोचना आवश्यक थी।

इस कार्य में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि स्वामी दयानन्द अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। कहा जाता है कि उन्होंने अपनी कलकत्ता यात्रा के समय कुछ परिचितों से अंग्रेज़ी भाषा सीखने की इच्छा व्यक्त की थी और उस समय उनका विचार इंगलैण्ड जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करने का भी था; किन्तु अंग्रेजी सीखने की सुविधा उस समय नहीं हुई और उनके सुहृदों में से जब श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा इंगलैंड गये तो स्वामी जी ने इसे पर्याप्त माना और स्वयं इंगलैण्ड जाने का विचार त्याग दिया। लेकिन वेदभाष्य का प्रश्न सामने आने पर अंग्रेजी पढ़े लिखे बंगाली सज्जन से स्वामी जी ने विल्सन, मैक्समूलर आदि के वेदभाष्यों का अनुवाद सुनना प्रारम्भ किया।

फर्रुख़ाबाद से काशी, जौनपुर, अयोध्या, शाहजहांपुर, बरेली होते हुए स्वामी जी अलीगढ़ जिले में छलेसर गये। यहां उनके द्वारा स्थापित वैदिक पाठशाला थी। इसी समय दिल्ली में महारानी विक्टोरिया को 'भारत राजेश्वरी' घोषित करने के लिए तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने १ जनवरी सन् १८७७ से दिल्ली-दरबार का आयोजन किया

था। देश के प्रायः सभी नरेश एवं गण्यमान्य व्यक्ति दिल्ली पधारे थे। इस अवसर से लाभ उठाने का विचार करके स्वामी दयानन्द भी दिल्ली पहुँचे।

जिस बात को देश के स्वाधीनता-संग्राम के कर्णधारों ने बहुत पीछे अनुभव किया, स्वामी दयानन्द ने उसे उसी समय अनुभव कर लिया था। पूरे देश में एकता की स्थापना का उपयुक्त मार्ग ढूँढने वे दिल्ली आये थे। देश की एकता ही उन्नति की साधक है, इतना ही नहीं, देश को स्वाधीन होना चाहिए और यह एकता के सम्पन्न होने से होगा, यह बात भी स्वामी जी ने अनुभव कर ली थी।

स्वामी जी के प्रयत्न से एक दिन निश्चित हो गया और उस समय के देश के प्रख्यात पुरुष उस दिन एकत्रित हुए। उनमें बंगाल के श्री केशवचन्द्र सेन, बम्बई के हरि देशमुख, अलीगढ़ के सर सैय्यद अहमद खाँ, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, प्रभृति गण्यमान्य व्यक्ति थे। सम्पूर्ण देश की उन्नति एवं एकता कैसे सम्पन्न हो, यही विचारणीय विषय था; किन्तु उस समय आगत-एकत्रित विद्वानों में कोई एक मत स्थिर नहीं हुआ। सब के अपने अपने पूर्व निर्धारित आग्रह थे और सब चाहते थे कि दूसरे उसी के अनुगत होकर चलें। फलतः, उस सभा से कोई उल्लेखनीय प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

स्वामी जी मेरठ, सहारनपुर, शाहजहाँपुर होते हुए चाँदापुर पहुँचे। वहां उन दिनों मेला लगा था। इस मेले में १६ मार्च सन् १८७७ ई० को एक महती सभा का आयोजन हुआ। यह सभा विशेष रूप से इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसमें क्रिश्चियन, मुस्लिम और हिन्दू तीनों सम्प्रदायों के विद्वान् प्रतिनिधि अपने अपने धर्मों का समर्थन करने के लिए

उपस्थित हुए थे। स्कॉट, नोबिल, पार्कर और जॉनसन ये चार पादरी ईसाई धर्म के प्रतिनिधि थे। मुहम्मद कासिम और अब्दुल मंसूर ये दो मौलवी इस्लाम के प्रतिनिधि थे। वैदिक मत के समर्थक प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द और श्री इन्द्रमणि थे। इस सभा के सभी विद्वानों ने विचारणीय विषय 'धर्म के मूल तत्त्व का निरूपण' रखा।

इस सभा में पाँच शाखा प्रश्न मूल प्रश्न से सम्बन्धित रखे गए—

१. परमेश्वर ने किस समय और किन उपकरणों से सृष्टि की रचना की ?
२. परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान है या नहीं ?
३. वेद, कुरान और बाइबिल के ईश्वरोक्त होने का प्रमाण क्या है ?
४. ईश्वर की दया और न्याय किस प्रकार है ?
५. मुक्ति क्या है और उसका उपाय क्या है ?

स्पष्ट है कि इन प्रश्नों पर कुछ घण्टों में कोई विश्लेषण नहीं हो सकता था। पहले प्रश्न पर विचार करने में ही बहुत समय लग गया। फलतः, एक पादरी ने प्रस्ताव किया कि सब प्रश्नों को छोड़ कर केवल अन्तिम प्रश्न पर विचार किया जाय। तथ्य यह भी था कि प्रश्न दो, तीन और चार पर अपनी दुर्बलता वे लोग अनुभव कर रहे थे और इसीलिए उन पर विचार से बचना चाहते थे। पादरी का प्रस्ताव सब ने स्वीकार कर लिया।

मुक्ति और उसके उपायों के विश्लेषण में भी स्वामी दयानन्द की प्रखर प्रतिभा का चमत्कार सब को स्वीकार करना पड़ा। पादरियों तथा मौलवियों का भी काफी संघर्ष

हुआ। परन्तु यह सभा क्रिश्चियन एवं मौलवियों के पक्ष में सर्वथा अप्रीतिकर हुई। वे लोग वहां से उठ कर चले गए। मौलवियों ने कहा था कि वे स्वामी जी के शाहजहाँपुर आने पर उनसे पुनः विचार-विनिमय करेंगे; किन्तु जब स्वामी जी शाहजहाँपुर गये तो वहां उनके पास उनमें से कोई नहीं आया।

चान्दापुर से स्वामी जी सहारनपुर लौटते हुए ३१ मार्च को लुधियाना आ गए। वहां उनका अच्छा स्वागत किया गया। किन्तु वहां के लोगों के विशेष आग्रह के होते हुए भी वहां स्वामी जी दो सप्ताह से अधिक समय नहीं दे सके। लुधियाना में ईसाइयों के चंगुल में फंसे हुए श्री रामशरण को उन्होंने ईसाई होने से बचा लिया।

पञ्जाब में प्रचार कार्य

दिल्ली दरबार के समय लाहौर के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति दिल्ली गये थे। वहां उनका स्वामी दयानन्द से परिचय हुआ था। इनमें अधिकांश व्यक्ति 'ब्राह्म समाज' के अनुयायी थे। स्वामी जी के असीम पाण्डित्य से वे बहुत प्रभावित हुए और दिल्ली में ही उन्होंने स्वामी जी से लाहौर पधारने का आग्रह किया था। उनके आग्रह को स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया था।

अपने लाहौर जाने के कार्यक्रम के कारण ही स्वामी दयानन्द लुधियाना में अधिक समय नहीं रुक सके थे।

१९ अप्रैल, १८७७ को वे लाहौर पहुँचे। स्टेशन पर उनका स्वागत हुआ और वे दीवान रत्नचन्द्र दाढ़ीवाले के बागीचे में ठहराये गये। वहां स्वामी जी का प्रतिदिन प्रवचन होने लगा।

२५ अप्रैल को बावली साहब स्थान में स्वामी जी का एक प्रवचन हुआ और उस प्रवचन ने लाहौर के पण्डितवर्ग में उनके विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। यह विरोध इतना बढ़ा कि इसके दबाव में स्वामी जी के शुभेच्छुओं को उन्हें दीवान रत्नचन्द्र के बागीचे से हटाकर डाक्टर रहीम खाँ नामक एक मुसलमान सज्जन की कोठी में ठहराना पड़ा।

इसके अतिरिक्त लाहौर के ब्राह्म-समाज के लोग भी स्वामी जी से असन्तुष्ट हो गए। क्योंकि स्वामी जी ने जो प्रवचन किये उन प्रवचनों से ब्राह्म-समाज के सिद्धान्तों का पूरा ताल-मेल नहीं बैठता था। स्वामी दयानन्द ब्राह्म-समाज के सुधारक प्रयत्नों तथा अन्य मान्यताओं से प्रायः सहमत थे; किन्तु उनका प्रबल आग्रह था कि ब्राह्म-समाज को वेदों को परम प्रमाण मान लेना चाहिए। लेकिन ब्राह्म-समाजी वेदों को आप्त या अपौरुषेय ग्रन्थ मानने को सर्वथा प्रस्तुत नहीं थे। वेदों को वे प्रमाण-ग्रन्थ भी मानना नहीं चाहते थे।

स्वामी दयानन्द ने लाहौर के ब्राह्म-समाज के लोगों को वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार कर लेने के लिए अनेक प्रकार से समझाया। स्वामी जी के इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि कुछ ब्राह्म-समाज के अनुयायी उनके अनुगत हो गये; किन्तु शेष ब्राह्म-समाज के लोग उनके प्रबल विरोधी भी हो गए और वे लोग उनका भी विरोध करने लगे जो स्वामी जी

से सहमत हो गए थे। इस प्रकार लाहौर के ब्राह्म-समाज में फूट पड़ गई और उसमें से स्वामी जी से सहमत-वर्ग पृथक् हो गया। यह वर्ग छोटा ही था।

स्वामी दयानन्द जब लाहौर आये थे, तब उनके प्रारम्भिक दो सप्ताह का व्यय वहां के ब्राह्म-समाज ने ही उठाया था; किन्तु पीछे वह वर्ग विरोधी बन गया। उन लोगों ने स्वामी जी से सहमत लोगों को अपने समाज से पृथक् कर दिया।

इन सब विरोध का एक ही परिहार था कि लाहौर में 'आर्य-समाज' की स्थापना की जाय। ब्राह्म-समाज के जो सदस्य स्वामी जी से सहमत हो गये थे, वे इसके लिए आग्रह करने लगे थे। अतः २४ जून सन् १८७७ ई० गुरुवार को लाहौर में डाक्टर रहीम खाँ की कोठी पर आर्य समाज की स्थापना हुई। इस प्रकार स्थानीय ब्राह्म-समाज के सदस्यों में से ही कुछ को लेकर पंजाब के आर्य-समाज की स्थापना हुई थी।

लाहौर में आर्य-समाज का प्रथम अधिवेशन २४ जून को डाक्टर रहीम खाँ की कोठी में हुआ; क्योंकि दूसरा उपयुक्त स्थान इस कार्य के लिए उपलब्ध न हो सका। यह आश्चर्य की बात है और डाक्टर रहीम खाँ के अतिशय उदार विचारों का परिचायक है कि उन्होंने स्वामी दयानन्द जैसे कट्टर वेदों के समर्थक को अपने यहां ठहराया ही नहीं, आर्य-समाज का पंजाब में प्रथम अधिवेशन भी उनके भवन में हुआ।

इसके पश्चात् १ जुलाई को आर्य-समाज का दूसरा अधिवेशन 'सत्सभा' के मन्दिर में हुआ। वस्तुतः, इस दूसरे अधिवेशन में ही आर्य-समाज का संगठन हुआ। लाला मूलराज सभापति, श्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य उपसभापति

एवं लाला जीवनदास आर्य-समाज के मन्त्री निर्वाचित हुए। तथा इसके दस नियम बनाए गए।

नियम :—

१. सब विद्या और विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सत्यविद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य-असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. हर एक को अपनी उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतन्त्र रहें।

जब यह सब कार्य चल रहा था, तो इसके साथ-साथ स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य का कार्य भी संपन्न हो रहा था।

वाराणसी से वेदभाष्य अङ्कों के रूप में प्रकाशित होने लगा था। लेकिन उसकी ग्राहक संख्या अत्यल्प थी। अतः प्रकाशन कार्य के लिए पर्याप्त आर्थिक व्यवस्था की अपेक्षा थी। स्वामी जी ने उस समय अपने सुहृदों से इस कार्य के लिए धन एकत्र करने के उपायों पर विचार किया। लोगों की सम्मति से सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करना निश्चित हुआ। उस समय अंग्रेज़ी सरकार भारतीय प्राचीन साहित्य के प्रकाशन में सहायता दे भी रही थी।

एक प्रार्थना-पत्र लिखा गया और छपे वेदभाष्य के दो अङ्कों के साथ उसे पंजाब सरकार के पास भेजा गया। सरकार तो अपनी पद्धति से ही कार्य करेगी। पंजाब सरकार ने उस भाष्य पर वेद के विद्वानों की सम्मति जानना आवश्यक समझा। अतएव वेदभाष्य के वे अंक सरकार की ओर से पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार के पास भेजे गए। यूनिवर्सिटी के तत्कालीन रजिस्ट्रार लैटनर साहब ने पण्डितों से सम्मति देने के लिए एक अनुरोध पत्र भी छपवाया और उस अनुरोध-पत्र के साथ वेदभाष्य के अंक पण्डितों के पास भेजे। पण्डितों ने अपना अपना अभिप्राय लिख कर भेजा और सरकार ने उनकी सम्मतियों को एक संग्रह के रूप में प्रकाशित कराया। इससे यह सिद्ध है कि सरकार उदासीन नहीं थी। किन्तु जो सम्मतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनमें से एक भी स्वामी जी के पक्ष में नहीं थी। इन सम्मति देने वालों में सब भारतीय व्यक्ति ही नहीं थे, टानी एवं ग्रिफिथ के समान पाश्चात्य वेदज्ञ प्राध्यापक भी थे और प्रायः सभी ने कहा था—'यह भाष्य स्वकपोल-कल्पित एवं अप्रामाणिक है।'

स्वामी दयानन्द ने इन में से एक एक विद्वान् की सम्मति

को उद्धृत करके उसका खण्डन किया और उस प्रतिवाद को पुस्तक रूप में छपवा कर फिर प्रार्थना-पत्र के साथ सरकार के पास भेजा। लेकिन सरकार का निश्चय बदला नहीं। सरकारी अधिकारियों ने स्वामी जी के वेदभाष्य को कोई आर्थिक सहायता देना उपयुक्त नहीं समझा।

यह घटना एक दृष्टि से स्वामी दयानन्द के पक्ष में हुई। क्योंकि पहिले जब वे कलकत्ते गये थे तब भी वहां उनके विरोधियों ने जनता में यह भ्रम फैलाया था कि—'स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेज सरकार से आर्थिक सहायता या निश्चित वेतन पाते हैं और अंग्रेज सरकार के आदेश से हिन्दू-धर्म का खण्डन करते घूमते हैं।' लाहौर में भी स्वामी जी के विरोधियों ने इस बात का बहुत प्रचार किया; किन्तु वेदभाष्य के लिए सरकारी सहायता न मिलने की चर्चा फैलने से जनता में रहा सहा वह विरोधियों द्वारा फैलाया मिथ्याभ्रम भी दूर हो गया। इस घटना के बाद ही लाहौर में आर्य-समाज की स्थापना हुई।

आर्य-समाज की स्थापना के पश्चात् स्वामी जी लाहौर से बाहर प्रचार करने निकले। अमृतसर प्रचार करते हुए जालन्धर पधारे। वहां उन्होंने ३४ व ३५ व्याख्यान दिए। एक दिन सरदार विक्रमसिह ने कहा—'सुनते हैं, ब्रह्मचर्य से बहुत बल बढ़ता है। इसका कोई उदाहरण बताइए, स्वामी जी मौन रहे। एक दिन जब सरदार साहब अपनी दो घोड़े की गाड़ी पर सवार हुए, तो स्वामी जी ने चुपके से जाकर गाड़ी का पिछला पहिया पकड़ लिया। कोचवान ने घोड़ों को बढ़ाना चाहा, चाबुक मारे, पर वे बढ़ न सके। सरदार साहब

ने पीछे मुड़ कर देखा, तो स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा कि मैंने ब्रह्मचर्य की शक्ति का प्रमाण दे दिया है।

जालन्धर से स्वामी जी लाहौर लौट आए। लाहौर में अन्तरंग सभा के एक अधिवेशन में, जिसमें उपनियम बन रहे थे, स्वामी जी को सम्मति देने के लिए कहा गया। स्वामी जी ने कहा—"मैं आप की सभा का सदस्य नहीं हूँ। मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है।"

लाहौर से फीरोज़पुर, रावलपिण्डी, जेहलम, गुजरात, गुजराँवाला आदि नगरों में उन्होंने भ्रमण किया तथा सभी स्थानों पर समाजें स्थापित हुईं। इस समय इतने स्थानों से उनके पास निमन्त्रण पत्र आने लगे कि उन सब का आमन्त्रण स्वीकार करना सम्भव नहीं रह गया। इस यात्रा में ही वे मुलतान गये।

मुलतान में आर्य-समाज की स्थापना हो गई और स्वामी जी की उपस्थिति में ही वहां आर्य-समाज मन्दिर का शिलान्यास हुआ। मुलतान से स्वामी जी फिर लाहौर लौट आए और लगभग एक मास रुक कर जालन्धर पहुँचे। जालन्धर में मौलवियों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ और वहां से वे सहारनपुर चले आये।

इस प्रकार पंजाब की यात्रा में जहां लाहौर में स्वामी जी का प्रबल विरोध हुआ, वही लाहौर उनके मत के प्रचार का मुख्य केन्द्र भी बना और आगे चलकर आर्य-समाज के उत्थान में लाहौर ने बहुत बड़ा योगदान किया। पंजाब में इसी यात्रा में स्वामी जी का प्रभाव व्यापक हो गया। उनके प्रति लोगों में उत्सुकता एवं आदर का भाव जागृत हो गया। इसके

फलस्वरूप उनकी अनुपस्थिति में भी आर्य-समाज का कार्य वहां बढ़ता ही गया।

पंजाब से बाहर प्रचार कार्य

स्वामी दयानन्द सहारनपुर, रुड़की, अलीगढ़ होते २६ अगस्त सन् १८७८ ई० को मेरठ पहुँचे और २९ सितम्बर को मेरठ में भी आर्य-समाज की स्थापना हो गई। मेरठ में स्वामी दयानन्द ने लाला रामशरणदास, लाला छेदीलाल, लाला शिवनारायण आदि कुछ वैश्यों का उपनयन संस्कार कराया। परम्परा से उनके कुल में यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता था। इसलिए उन वैश्यों का विधिवत यज्ञोपवीत संस्कार कराने से मेरठ में एक तुमुल आन्दोलन छिड़ गया।

मेरठ में इन सब कार्यों में एक महीना लगा। इसके पश्चात् स्वामी जी दिल्ली पधारे और १३ अक्तूबर, १८७८ को आर्य-समाज स्थापित हुआ। दिल्ली से रिवाड़ी होते अजमेर गए। उन दिनों पुष्कर में कार्तिक का मेला लगा था। अतः वे पुष्कर चले गए।

पुष्कर में कुछ दिन रह कर स्वामी जी अजमेर लौटे। यहां बारह दिन विभिन्न विषयों पर उनका प्रवचन होता रहा। २८ नवम्बर को ग्रे साहब के साथ स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ लिखित रूप में चलता था और तीन दिन चला। इसमें स्वामी जी ने बाइबिल का खण्डन किया और अपने प्रतिपक्षी को निरुत्तर कर दिया।

२० फरवरी सन् १८७९ अजमेर से स्वामी दयानन्द हरिद्वार कुम्भ पर आये। मेरठ से हज़ारों की संख्या में लाए हुए विज्ञापन उन्होंने स्थान-स्थान पर लगवाए, जिनमें यह लिखा था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती अमुक स्थान पर ठहरे हैं, जो महाशय उनके संभाषण से लाभ उठाना चाहें, वे उस स्थान पर सभ्यता से प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करें।

पूर्वोक्त विज्ञापन के प्रचारित होते सहस्रों की संख्या में लोग धर्मोपदेश सुनने और शंकासमाधान के लिए आने लगे। प्रातःकाल नित्य-कृत्य से निपट कर स्वामी जी सात बजे सभामञ्च पर आ बैठते और ग्यारह बजे तक प्रश्नोत्तर होते रहते। एक बजे फिर मंच पर आ विराजते और व्याख्यान तथा शंका-समाधान पांच बजे तक चलता। रात्रि को भी सात से नौ बजे तक कार्यक्रम चलता। इस अधिक परिश्रम से स्वामी जी का शरीर अस्वस्थ हो गया। अतः पर्व के दूसरे दिन वहां से चल कर देहरादून चले गए। देहरादून में आर्य-समाज स्थापित करके स्वामी जी ३० अप्रेल को सहारनपुर चले गए, जहां कर्नल अलकाट और मैडम व्लेवाटस्की अमेरिका से आकर उनसे मिलने की प्रतीक्षा कर रही थीं।

कर्नल अल्काट तथा मैडम ब्लेवाटस्की ने भारत में थियोसोफ़िस्ट सभा की स्थापना की, यह बात सभी जानते हैं; किन्तु वे यहां आते ही स्वामी दयानन्द सरस्वती से क्यों मिले, यह बात कम लोगों को ज्ञात है।

पहिले अमेरिका में कर्नल एवं मैडम के प्रयत्न से 'थियासोफिकल सोसाइटी' की स्थापना हुई थी। उसके उद्देश्य में कहा गया था—'वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में जो पवित्र पारमार्थिक तत्त्व प्रतिपादित है, विचारपूर्वक उस तत्त्व का

यह सोसायटी प्रचार करेगी और जनसाधारण को भ्रातृत्व के सूत्र में सम्बद्ध करने के लिए सचेष्ट रहेगी।'

यह सभा अमेरिका में स्थापित हुई थी; किन्तु उसके संस्थापक कर्नल अल्कॉट ने स्वामी दयानन्द से प्रारम्भ से ही पत्र-व्यवहार रखा था। कर्नल ने स्वामी जी को अपने १८ फरवरी सन् १८७८ के पत्र में लिखा था--"हे गुरो! *हमारी ओर देखिये और हम को बतलाइये कि हमें क्या करना चाहिए। हम को अपनी शिक्षा-सहायता दीजिये। हम आपके समीप गर्व के साथ नहीं किन्तु नम्रता के साथ आते हैं और आपकी शिक्षा को मानने के लिए और अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए जैसा कि हमें बताया जावे, हम उद्यत हैं।*"

बात इसी पत्र-व्यवहार तक नहीं थी। यह सोसाइटी स्वामी जी के इतने घनिष्ठ सम्पर्क में आ गई कि उसने अपने को भारतीय आर्य-समाज की शाखा घोषित किया। उसके रिकार्डिङ्ग सेक्रेटरी आगस्टम गस्टम के २२ मई सन् १८७८ ई० के न्यूयार्क से लिखे गए पत्र का अविकल अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :—

"आर्य-समाज के प्रधान के पास—

माननीय महोदय! आपको नम्रतापूर्वक सूचित किया जाता है कि थियासोफिकल सोसाइटी की कौंसिल के एक अधिवेशन में, जो न्यूयार्क में २२ मई सन् १८७८ को सामयिक प्रधान के सभापतित्व में हुआ, ए० बाइल्डर साहब उप-सभापति के प्रस्ताव और पत्र-व्यवहारकर्ता मन्त्री एच. पी. ब्लेवाटस्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से निर्धारित हुआ कि यह सभा आर्य-समाज के इस प्रस्ताव को कि सभा उक्त समाज के साथ मिल जावे और इस सभा का नाम परिवर्तित

करके—'भारतवर्षीय आर्य-समाज की थियासोफिकल सोसाइटी' रखा जावे, स्वीकार करती है।

यह भी निश्चय हुआ कि थियासोफिकल सोसाइटी अपनी और अपनी शाखाओं की ओर से जो अमेरिका, यूरोप एवं अन्य देशों में हैं, स्वामी दयानन्द सरस्वती पण्डित, संस्थापक—"आर्य-समाज" को अपना नियमानुकूल आचार्य वा अधिनायक मानती है।

आप की स्वीकृति-सूचना और किन्हीं आज्ञाओं की जो आप कृपापूर्वक प्रदान करें—"प्रतीक्षा करता हुआ……।"

इस प्रकार जब थियासोफिकल सोसायटी अपने भारतवर्षीय आर्य-समाज की शाखा तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती को अपना प्रधान आचार्य स्वीकार कर चुकी थी, तब कर्नल अल्कॉट एवं मैडम ब्लेवाटस्की भारत आकर सीधे स्वामी जी से मिलना चाहें, यह स्वाभाविक ही था।

इन दोनों को साथ लेकर स्वामी जी सहारनपुर से मेरठ आये। मेरठ में उनके रहने का स्वतन्त्र प्रबन्ध हो गया। यहां दोनों ने स्वामी जी से धर्मोन्नति तथा भारतीय योगविद्या के सम्बन्ध में कई दिनों तक वार्तालाप किया और वे दोनों मेरठ से बम्बई चले गये।

इस बार स्वामी दयानन्द मेरठ में थोड़े ही दिन रुके। वे वहां से मुरादाबाद, बदायूँ होते बरेली पहुँचे। बरेली में स्वामी जी का शास्त्रार्थ पादरियों से तीन दिन होता रहा। श्री मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के पिता बरेली में कोतवाल थे और श्री मुन्शीराम काशी के कालेज में पढ़ते थे। वह छुट्टी के कारण वहां आये हुए थे। उनके विचार नास्तिकता की ओर झुके हुए थे। पिता के साथ वे स्वामी जी के व्याख्यानों

में जाते रहे। प्रश्नोत्तरों से शनैः शनैः नास्तिकता दूर होकर आस्तिकता आने लगी। उनकी श्रद्धा स्वामी जी पर इतनी हो गई कि पादरियों के साथ हो रहे शास्त्रार्थ में दो दिन उन्होंने स्वामी जी के पक्ष में कार्य किया।

बरेली में उनके व्याख्यानों से कमिश्नर साहब, जो कि ईसाई थे, अप्रसन्न हो गए। उन्होंने अपनी अप्रसन्नता को बरेली के एक सज्जन के द्वारा स्वामी जी के पास पहुँचाया कि आपके व्याख्यान बन्द किये जायेंगे। सन्देश मिलने पर स्वामी जी ने कहा—

> "लोग कहते हैं, सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रुद्ध होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्ती राजा क्यों न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे। मुझे वह शूरवीर दिखलाओ, जो यह कहता हो कि, वह मेरे आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तय्यार नहीं हूँ कि, मैं सत्य को दबाऊँगा या नहीं।"

बरेली से शाहजहाँपुर, लखनऊ, फर्रुख़ाबाद, कानपुर, प्रयाग, मिर्जापुर, दानापुर आदि होते वे काशी पहुँचे। प्रायः सभी स्थानों पर आर्य-समाज स्थापित हो गए। यह सातवीं बार उनका काशी में आगमन था। वे जब भी काशी आये, उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए पण्डितों को चुनौती दी। इस बार भी उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देने वाला विज्ञापन प्रकाशित किया।

इस विज्ञापन के उत्तर में राजा शिवप्रसाद जी ने 'प्रथम

निवेदन' नामक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका प्रतिवाद स्वामी जी ने 'भ्रमोच्छेदन' नाम की पुस्तिका में प्रकाशित कराया।

इसी समय स्वामी जी का प्रवचन बंगाली टोला के एक स्कूल में होना निश्चित हुआ; किन्तु जब वे २० दिसम्बर को नियत स्थान पर उपस्थित हुए तो उन्हें सरकारी अधिकारी ने मैजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर युक्त एक आज्ञापत्र दिया। उसमें कहा गया था--'काशी में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रवचन बंद किये जाते हैं।' इस आज्ञा को पाकर स्वामी जी आश्चर्य-चकित रह गए। उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे लाट के पास निवेदन करने का उद्योग प्रारम्भ किया। यह आज्ञापत्र तत्कालीन मैजिस्ट्रेट बाल साहब की ओर से जारी हुआ था। सरकारी पक्ष का कहना था कि "इससे दस-बारह वर्ष पूर्व, जब स्वामी जी ने काशी में प्रवचन किया था, तो दंगा हो गया था। इस बार भी उनके प्रवचन से नगर में शान्ति भंग होने की आशंका है।"

लेकिन यह आज्ञा उचित नहीं थी, यह बात मैजिस्ट्रेट बाल साहब ने बहुत शीघ्र अनुभव कर ली और उन्होंने स्वामी जी को प्रवचन करने की आज्ञा दे दी।

इस बार स्वामी जी पूरे पांच महीने काशी में रहे। वहां उनके साथ कर्नल अल्कॉट के भी व्याख्यान कई बार हुए। काशी में इस बार स्वामी जी के प्रवचन पर जो एक बार प्रतिबन्ध सरकार ने लगाया था, उससे जनता में स्वामी जी की लोकप्रियता अधिक बढ़ गई थी। उनके पक्ष में उन दिनों अंग्रेज़ी के 'पायोनियर' पत्र ने जोरदार लेख प्रकाशित किए थे। १२ फरवरी सन् १८८० को काशी में लक्ष्मी कुण्ड पर वैदिक यन्त्रालय (छापाखाना) की स्थापना की गई।

प्रचार का अन्तिम दौर

काशी से स्वामी जी लखनऊ, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ, मुज़फ्फरनगर होते हुए आगरा आये। वे नवम्बर के अन्त में आगरा पहुँचे थे और दिसम्बर के तीसरे सप्ताह तक वहां उनके प्रवचन होते रहे। इस मध्य स्वामी जी को रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के आर्कबिशप ने निमन्त्रित किया। स्वामी जी वहां गए और वहाँ उन्होंने धर्मचर्चा की।

इस बार आगरा में उन्होंने १२ जनवरी सन् १८८१ को 'गोरक्षिणी सभा' की स्थापना की तथा उसके समर्थन में 'गोकरुणानिधि' नाम की एक पुस्तिका भी लिखी। देश में गोरक्षा के आन्दोलन का स्वामी जी द्वारा यह अत्यन्त शुभ एवं सभी के लिए अभीष्ट प्रारम्भ हुआ था। यह कितना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसे बहुत पीछे धार्मिक नेताओं ने अनुभव किया। भारत में गोवध सर्वथा बन्द होना चाहिए, यह बात उस दूरदर्शी महर्षि ने उसी समय अनुभव कर ली; किन्तु खेद है कि उस समय उनके इस प्रयत्न को कोई प्रोत्साहन जनता से प्राप्त नहीं हुआ।

इस बार स्वामी जी के प्रयत्न से आगरा में भी आर्य-समाज की स्थापना हो गई। इसके अनन्तर १० मार्च को वे आगरा से चले गये। इस यात्रा में वे भरतपुर होते हुए अजमेर पहुँचे। अजमेर में पहिले से ही आर्य-समाज की स्थापना हो चुकी थी। वहां के आर्य-समाज के प्रबन्ध में स्वामी जी के कई व्याख्यान हुए।

अजमेर से जयपुर, मसूदा, रामपुर, चित्तौड़गढ़ और इन्दौर आदि स्थानों में भ्रमण करते वे दिसम्बर के अन्तिम

सप्ताह में बम्बई पहुँचे और वहाँ आर्य-समाज की उन्नति में प्रयत्नशील हो गये। वहां आर्य-समाज मन्दिर बनाने का उद्योग हुआ। स्वामी जी उसके ट्रस्टी नियुक्त हुए।

इस समय तक स्वामी दयानन्द थियोसॉफिस्ट सभा से मिलकर काम कर रहे थे और यह संस्था आर्य-समाज से सम्बद्ध मानी जाती थी। स्वामी जी ने अपनी जीवनी भी 'थियोसोफिस्ट' पत्र के कई अंकों में दी थी। लेकिन अब स्वामी जी और इस सभा के सञ्चालकों में मतभेद पैदा हो गया।

स्वामी जी एक मात्र वेदों को भ्रान्तिहीन परम प्रमाण मानते थे। वे वेदों के समकक्ष दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थ को मानने को प्रस्तुत नहीं थे। इसके अतिरिक्त उनके स्वभाव में वेदों को न मानने वालों से समझौता करने की प्रवृत्ति नहीं थी। जहाँ जो कुछ उन्हें वैदिक मान्यता के प्रतिकूल लगता था, उसका वे निर्भीकतापूर्वक खण्डन करने से चूकते नहीं थे।

थियोसाफिकल सोसायटी के संस्थापकों, सञ्चालकों ने उन्हें अपना आचार्य मान तो लिया; किन्तु अधिक दिनों तक वे इस मान्यता का निर्वाह नहीं कर सके। इस सोसायटी के संचालक एक मात्र वेदों को ही परम प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं थे। वेदों को वे श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ मानने को उद्यत थे; किन्तु और अनेक धर्मग्रन्थों को भी वे प्रामाणिक मानते थे, जो स्वामी जी को स्वीकार नहीं था। खण्डनात्मक प्रवृत्ति थियासोफिकल सोसायटी के सर्वथा प्रतिकूल पड़ती थी।

इन सब कारणों से स्वामी दयानन्द ने थियोसॉफिकल सोसायटी से आर्य-समाज का सम्बन्ध सर्वथा तोड़ देना ही उचित माना। उन्होंने बम्बई में एक महती सभा का आयोजन किया और उस सभा में थियोसॉफिकल सोसायटी का क्रमबद्ध इतिहास बताकर उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—'आर्य-समाज का अब थियोसॉफिकल सोसायटी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता।' इस प्रकार आर्य-समाज तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी का सम्बन्ध समाप्त हो गया।

बम्बई के पश्चात् स्वामी जी खण्डवा गये और उधर लगभग एक महीने मध्य भारत के स्थानों में भ्रमण करते रहे। इसी समय उन्हें उदयपुर के महाराणा का आमन्त्रण मिला। महाराणा स्वामी जी का अत्यधिक सम्मान करते थे। स्वामी जी महाराणा के बुलाने पर उदयपुर चले गये। वहाँ उनका उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। उनके प्रवचनों में जनता की भारी भीड़ रहने लगी। महाराणा सज्जनसिंह स्वामी जी के अत्यन्त निकट सम्पर्क में आ गये। उन्होंने स्वामी जी से संस्कृत सीखने की इच्छा प्रगट की और स्वामी जी ने इसे स्वीकार कर लिया। छः महीने के अध्ययन में महाराणा की संस्कृत भाषा में अच्छी प्रगति हो गई। स्वामी जी ने उन्हें मनुस्मृति का सातवां, आठवां और नौवां अध्याय पढ़ाया।

स्वामी जी के सत्संग तथा उपदेश से महाराणा की विलासिता समाप्त हो गई। राजमहल में वारांगनाओं का नृत्य बन्द हो गया। अब राजसदन और राजोद्यान में यज्ञ-वेदियाँ बनवायी गयीं और वहाँ नियमित रूप से यज्ञ होने लगा। एक बार महाराणा ने कहा कि यह राज्य एकलिंग

महादेव के अधीन है। आप एकलिंग के मन्दिर के महन्त बन जाएँ। कई लाख रुपये पर आपका अधिकार हो जायेगा। स्वामी जी आवेश में आकर बोले—"आप लोभ देकर मुझ से सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आज्ञा भंग कराना चाहते हैं। यह छोटा-सा राज्य और उसके मन्दिर, जिन से मैं एक दौड़ में बाहर हो सकता हूँ, मुझे कभी भी वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करने पर उतारू नहीं कर सकते। मैं सत्य को कदापि छोड़ व छिपा नहीं सकता।" यह सुनकर महाराणा की श्रद्धा उन पर और बढ़ गई।

इसी समय उदयपुर में स्वामी दयानन्द ने "परोपकारिणी सभा" की स्थापना की। महाराणा के दरबार में इस सभा का स्वीकृति पत्र पढ़ा गया। उस पर नियम-पूर्वक महाराणा के हस्ताक्षर हुए। स्वयं महाराणा उस सभा के प्रधान बने। प्रमुख सरदारों ने सभा के नियम-पत्र पर साक्षी रूप से हस्ताक्षर किये। स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थ, उनके संग्रहीत ग्रन्थ, यन्त्रालय तथा उनकी एकत्र सम्पत्ति पीछे इसी सभा की सम्पत्ति मानी गयी।

उदयपुर के अंतगर्त एक रियासत (ठिकाना) शाहपुरा था। वहाँ के शासक ने स्वामी जी को बड़े आग्रह-पूर्वक अपने यहाँ बुलाया था। उनका पधारने का अनुरोध कई बार प्राप्त हुआ था। अतः स्वामी जी उदयपुर से चित्तौड़ होते शाहपुरा गये। वहाँ उनका अच्छा सत्कार हुआ और उनके प्रवचनों ने जनता तथा वहाँ के शासक को बहुत प्रभावित किया। शाहपुरा में ही स्वामी जी को जोधपुर नरेश का पत्र प्राप्त हुआ। इसमें उन से जोधपुर पधारने का आग्रह किया गया था। पत्र पाकर स्वामी जी ने जोधपुर प्रस्थान किया।

अवसान

जोधपुर नरेश ने स्वामी दयानन्द का बड़े उत्साह तथा श्रद्धा से स्वागत किया था। उनके रहने की समुचित व्यवस्था कर दी थी। स्वामी जी का भी महाराज के प्रति स्नेहभाव था। वहाँ की जनता स्वामी जी के प्रवचनों से भली प्रकार प्रभावित हो रही थी।

वहां स्वामी जी के चार महीने आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। उन दिनों स्वामी जी ब्राह्मणों की वृत्तिच्युति, क्षत्रियों की अधोगति, आचार-च्युति एवं विलासिता से अत्यन्त खिन्न थे। वे चाहते थे कि भारत नरेश अपने दुर्गुणों को छोड़ कर सदाचारी तथा प्रजा-वत्सल बनें। उनमें धार्मिक भावना जागृत हो। अतः अनेक बार स्वामी जी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के अधःपतन की कठोर आलोचना करते थे। वे नरेश के आचरणगत दोषों की भी खरी आलोचना करने से चूकते नहीं थे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि जोधपुर नरेश धीरे धीरे कुछ दोषों से उपरत् होने लगे। दूसरी ओर स्वामी जी का विरोध भी बढ़ने लगा और कुछ लोग उनके प्रबल विरोधी हो गए।

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि राजाओं तथा धनियों की आचारहीनता पर ही उनकी जीविका निर्भर होती है। वे लोग नाना उपायों से अपने आश्रयदाता को लम्पटता की ओर लगाये रखते हैं। जोधपुर नरेश के आसपास भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। यह वर्ग स्वामी जी का कट्टर शत्रु हो गया क्योंकि उसे लगा कि स्वामी जी के प्रभाव से नरेश उनके चंगुल से सर्वथा छूटते जा रहे हैं। नरेश यदि सदाचार-परायण संयमी हो गए तो उन्हें जो नाना प्रकार की

सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे नष्ट ही हो जाएंगी। ऐसे वर्ग में जोधपुर नरेश की रखेल एक वैश्या भी थी और वह स्वामी दयानन्द की इतनी विरोधिनी हुई कि उसी ने षड्यन्त्र करके स्वामी जी को विष* दिलवाया।

जोधपुर में पाँचवें महीने में स्वामी दयानन्द के यहां चोरी हो गई। स्वामी जी के साथ जो रुपये रखने का काम रामानन्द ब्रह्मचारी करते थे, उनकी असावधानी से यह चोरी हुई और इसमें स्वामी जी के ही एक सेवक का हाथ बताया जाता है।

आश्विन मास की एकादशी को स्वामी दयानन्द को ठण्ड लग गई थी। ठण्ड के कारण उनका शरीर अस्वस्थ था। चतुर्दशी की रात्रि को वे केवल दूध पीकर सोए। यही दूध उनके लिए प्राण-घातक सिद्ध हुआ।

प्रातःकाल स्वामी जी नित्य टहलने जाया करते थे। उस दिन देर से उठे। उठते ही वमन हुआ। फिर उन्होंने बहुत सा जल पीकर स्वेच्छापूर्वक वमन किया लेकिन उन्हें फिर भी बेचैनी रही और लगा कि भीतर से दुर्गन्धि आ रही है। कमरे में सुगन्धित धूप उनके आदेश से जलाई गई। दुर्गन्धि दूर हो गई, किन्तु भयंकर पीड़ा पेट में बनी रही। यह पीड़ा इतनी बढ़ी कि श्वास लेने में कष्ट होने लगा।

---

* यह बात पूरी तरह प्रमाणित नहीं हो सकी कि किसने विष दिया, किसके द्वारा दिलाया गया और कैसा विष दिया गया। जगन्नाथ वाली बात भी प्रमाणित नहीं हो सकी। ये सभी अभी तक समस्याएँ ही बनी हुई हैं। चिकित्सक अलीमर्दान खाँ के द्वारा कैलोमल (Calomel) की अधिक मात्रा दिए जाने से भी रोग ने घातक रूप धारण कर लिया, ऐसा भी कहा जाता है।

३० सितम्बर को जोधपुर नरेश स्वामी जी के समीप आए और उन्होंने अलीमर्दान खाँ नामक चिकित्सक को स्वामी जी के उपचार पर नियुक्त किया। चिकित्सक के उपचार से कोई लाभ नहीं हुआ। दूसरी अक्तूबर को स्वामी जी ने चिकित्सक से हल्की जुलाब लेने की इच्छा प्रकट की। लेकिन जो जुलाब अलीमर्दान खाँ ने उन्हें दिया उससे उन्हें लगभग तीस दस्त हुए। दूसरे दिन भी चिकित्सक से कहने का कोई लाभ नहीं हुआ। दस्त बराबर आते रहे। ६ अक्तूबर के बाद भी दस्त बन्द नहीं हुए और चिकित्सक कहते रहे 'दस्तों का अपने आप बन्द होना अच्छा है।'

इसी समय स्वामी जी के गले में मुख से पेट तक तथा हाथ-पैर के तलुओं में छोटी-छोटी फुंसियां हो गई। बात करने में क्लेश होने लगा, साथ ही भयंकर हिचकी प्रारम्भ हो गई।

जोधपुर में चिकित्सा से लाभ न होते देख स्वामी जी ने आबू जाने की इच्छा प्रकट की। महाराज जसवन्तसिंह नहीं चाहते थे कि ऐसी रुग्णावस्था में स्वामी जी जोधपुर से जाएँ; किन्तु स्वामी जी ने जाने का निश्चय स्थिर रखा। महाराज ने विवश होकर पालकी में बैठा कर स्वामी जी को विदा किया। वे स्वयं स्वामी जी को नगर के बाहर तक पहुँचाने आए। अन्त में भी उन्होंने स्वामी जी से आरोग्य होते ही पुनः जोधपुर पधारने की प्रार्थना की।

आबू के मार्ग में भी स्वामी दयानन्द की हिचकी और दस्त बन्द नहीं हुए। आबू पर चढ़ने में उन्हें बहुत कष्ट हुआ; किन्तु वहां डाक्टर लक्ष्मणदास की चिकित्सा से दस्त एवं हिचकी बन्द हो गई और स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। लक्ष्मणदास को अधिकारियों ने अजमेर बदल दिया। स्वामी जी को भी उनके हितैषियों तथा एक अंग्रेज़ डाक्टर ने अजमेर जाने की

सलाह दी। अतः आबू से वे अजमेर आए। इस यात्रा के कारण रोग ने पुनः भयंकर रूप धारण कर लिया।

बीमारी के इस पूरे समय में स्वामी जी का धैर्य अद्भुत था। उनके शरीर में असह्य पीड़ा थी, किन्तु वे जिस प्रकार शांत पड़े रहते थे, उसे देखकर चिकित्सक चकित हो जाते थे। उन्होंने अपने रुग्ण होने का समाचार भी कहीं किसी को नहीं भेजा। जैसे शरीर से वे सर्वथा उपराम हो चुके थे।

अजमेर आकर स्वामी जी का रोग सांघातिक हो गया। मुख के भीतर छोटी-छोटी फुंसियाँ हो जाने से वे बोल नहीं पाते थे। २८ अक्तूबर तक डाक्टर लक्ष्मणदास की चिकित्सा चलती रही, किन्तु जब २९ अक्तूबर को दशा अधिक बिगड़ी, तो स्थानीय सिविल सर्जन डाक्टर न्यूमैन को बुलाया गया। लेकिन वे कुछ विशेष नहीं कर सके। स्थानीय आर्य समाज के सदस्यों ने डाक्टर मुकुन्दलाल को बुलाने के लिए आगरे तार दिया, किन्तु तब समय बीत चुका था। २९ अक्तूबर को लाहौर से पण्डित गुरुदत्त जी एम. ए. और लाला जीवनदास भी पहुँच गए।

अन्तिम समय से कुछ पूर्व स्वामी दयानन्द में बोलने की शक्ति आ गई थी। उन्होंने आत्मानन्द प्रभृति अपने शिष्यों को समीप बुलाया और पूछा—"तुम्हारी क्या अभिलाषा है?" यह सुनकर शिष्यों के नेत्रों से अश्रु-प्रवाह चल पड़ा। स्वामी जी ने सब को समझाया, सब को अपने वस्त्र बांट दिए और फिर अपने पीछे खड़े होने को कहा। कमरे के सब द्वार तथा खिड़कियाँ उन्होंने खुलवा दीं। इसके पश्चात् वे गायत्री मन्त्र का जप करते हुए ध्यानस्थ हो गए। इससे पूर्व उन्होंने क्षौर (मुण्डन) करा लिया था। थोड़ी देर के

पश्चात् आंखें खोल दीं और कहने लगे—'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो । आहा ! तैंने अच्छी लीला की ।' इतना कहकर स्वयं ही करवट ली और श्वास को रोक कर एक दम बाहर निकाल दिया । सब कुछ समाप्त हो गया । वह विक्रम संवत् १९४० कार्तिक मास की अमावस्या तिथि थी । मंगलवार का दिन था (३० अक्तूबर सन् १८८३ ई०) ।

भारत में जो प्रकाश की ज्योति स्वामी दयानन्द के रूप में आई थी, विरोधियों की संकीर्णता पूर्ण दुष्प्रवृत्ति के षड्यन्त्र स्वरूप उसका उस दिन निर्वाण हो गया ।

परम्परागत नियम के अनुसार संन्यासी के शरीर को या तो समाधि दी जाती है या उसका जल-प्रवाह किया जाता है, किन्तु स्वामी दयानन्द की दृढ आस्था वेदों में थी । यजुर्वेद के मन्त्र 'भस्मान्त ँ शरीरम्' को वे परम आदर्श मानते थे । अतः अपनी रोग शय्या पर उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि उनके शरीर को समाधि न दी जाए; उसका अग्नि-दाह किया जाए ।

स्वामी जी का शरीर स्नानान्तर चन्दन-पुष्पमाला आदि से सज्जित करके विमान में रखा गया । उनके देह की श्मशान यात्रा में सैंकड़ों व्यक्ति पीछे पीछे गए ।

नगर के दक्षिण तारागढ़ के नीचे वैदिक विधि से वह पवित्र देह घृत तथा सुगन्धित द्रव्यों के साथ अग्नि को अर्पित कर दिया गया । आर्य सन्तान जो अपने शरीर की आहुति से मरणोत्तर यज्ञ सम्पन्न करती है, स्वामी जी जैसे आर्य नेता के देह ने भी उसे सम्पूर्ण किया । ●
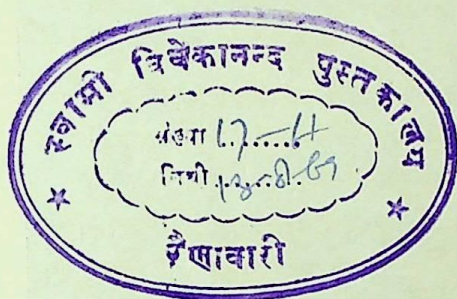
स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द

[सन् १८६३—१९०२ ई.]

●

महीप सिंह
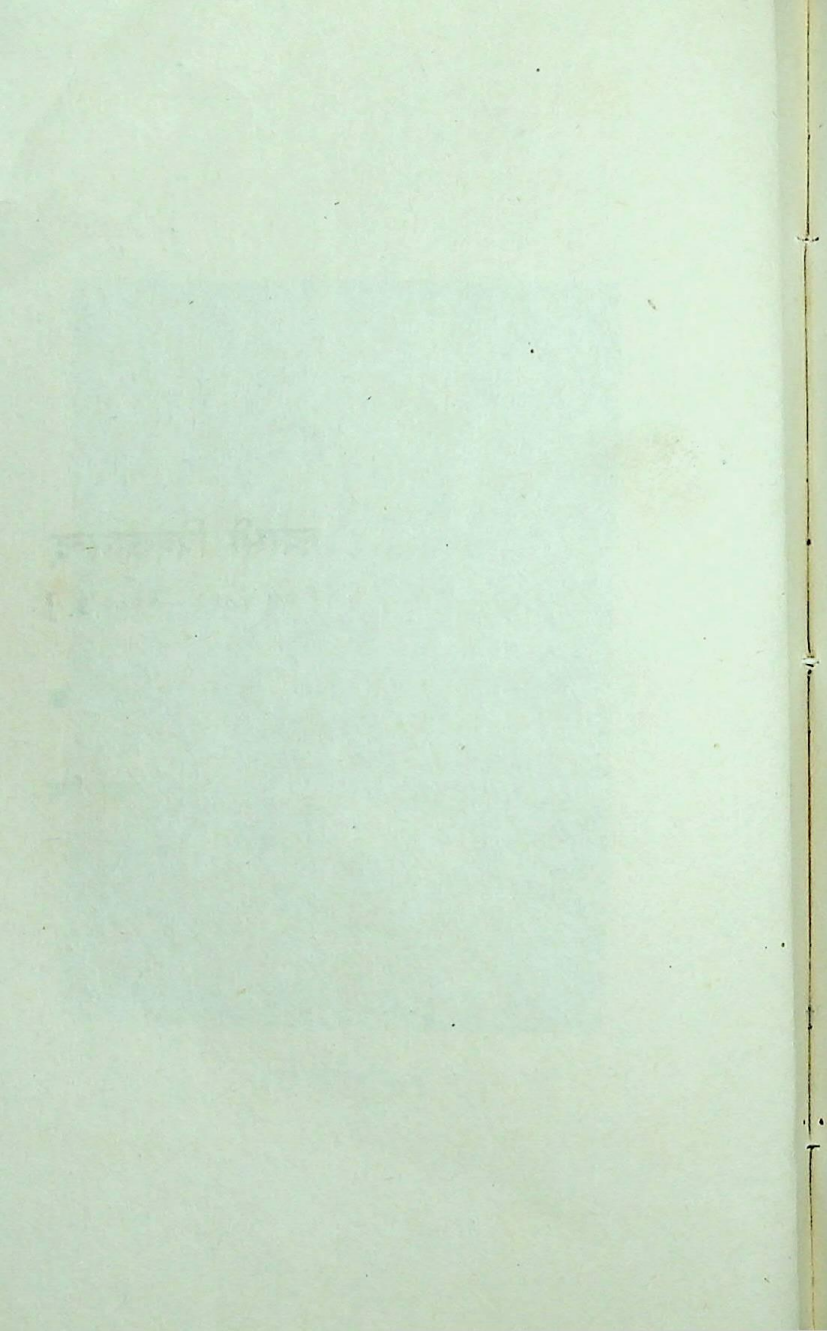
पृष्ठभूमि

स्वामी विवेकानन्द जैसा चित्ताकर्षक बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तित्व लेकर जन्म लेने वाले महापुरुषों का इस देश में कभी अभाव नहीं रहा। फिर भी इस श्रृंखला की नवीनतम कड़ी होने के कारण यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुए भारतीय नवजागरण के प्रयासों पर यदि किसी एक व्यक्तित्व की सबसे गहरी छाप लगी तो वह स्वामी विवेकानन्द की। इस नवजागरण के परवर्ती अग्रदूतों ने भी स्वामी विवेकानन्द की अपने जीवन पर पड़ी छाप को उन्मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। अपने मोहक व्यक्तित्व से संसार भर को चमत्कृत करने वाले स्वामी रामतीर्थ भी विवेकानन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व से जीवन का प्रकाश पा चुके थे। महायोगी अरविंद अपने बंदी जीवन की साधनाओं में स्वामी विवेकानन्द की जीवन दृष्टि से उत्स्फूर्त और प्रेरित हुए थे। महात्मा गांधी ने भी स्वीकार किया है कि स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं ने भारत को समझने और उसके

प्रति प्रेम की भावना की अभिवृद्धि करने में उनकी बहुत बड़ी सहायता की है।

स्वामी विवेकानन्द का प्रादुर्भाव इस देश में उस समय हुआ जब पश्चिम के नवीन धर्म, नवीन संस्कृति एवं नवीन जीवन के सम्पर्क में आयी हुई भारतीय चिंता अपने नव-जागरण की आरंभिक अँगड़ाइयां ले रही थी। उसके सम्मुख एक बड़ा प्रश्न चिह्न खड़ा था : उस नवजागरण की दिशा कौन सी हो ? क्या समाज बाह्य आक्रमणों से भयभीत होकर अपने कर्मकाण्डी दुर्ग की दीवारों को और भी ऊँचा बना ले जहाँ से उसे बाहर का कोई भी दृश्य दृष्टिगोचर न हो या वह अपने टूटे फूटे हथियारों को त्याग कर समय की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए नवीन शस्त्र ग्रहण करे और साहस से मैदान में उतरकर, आयी हुई विपत्ति का सामना करे ?

लगभग इसी प्रकार की अवस्था इससे पांच-छः शताब्दियों पूर्व इस्लाम के आगमन के समय इस देश में उपस्थित हुई थी। उस समय समाज के रूढ़िवादी वर्ग ने अपने चारों ओर जातिभेद, छुआछूत और कर्मकाण्ड का एक अभेद्य दुर्ग बनाकर अपनी रक्षा का प्रयास किया था और उस दुर्ग से बाहर रह गये असंख्य लोगों को उन्होंने नवागन्तुक इस्लाम की कृपा पर छोड़ दिया था जो कालान्तर में इस्लाम धर्मा-वलम्बी बन गये थे।

विवेकानन्द के पूर्ववर्ती काल में रूढ़िग्रस्त पुरातन पंथी समाज के अभेद्य दुर्ग से बाहर पड़े हुए असंख्य तथाकथित निम्न श्रेणी के हिन्दू ईसाई मत को अपनाते जा रहे थे। उस समय भी रक्षणशील हिन्दू समाज लकीर का फकीर बना

कुछ पुरानी प्रथाओं और निषेधों को मानकर ही चल रहा था। बारह महीनों में तेरह त्योहार मनाना, तीर्थयात्रा और गंगास्नान करना, ब्राह्मण-पुरोहितों को दान-दक्षिणा देना और खान-पान तथा आचार-व्यवहार में कट्टर कर्मकाण्ड का पालन करने को ही वह अपना धर्म समझ रहा था। ऐसे समय में सबसे प्रथम राजा राममोहन राय ने तथा फिर स्वामी दयानन्द ने भारतीय संस्कृति की इस संकीर्ण रक्षणशीलता पर गहरी चोटें कीं। इसके बाद आये विवेकानन्द, जिन्होंने इस नवजागरण के बल और तेज में अपूर्व वृद्धि की।

राजा राममोहन राय के देहान्त के लगभग ३० वर्ष पश्चात् स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ। वे राजा राममोहन राय के तीन मूल-सूत्रों से विशेष प्रभावित थे :— (१) वेदान्त (२) स्वदेश-प्रेम तथा (३) हिन्दू और मुसलमानों से समान प्रीति। वे प्रायः कहा करते थे कि इन बातों में राजा राममोहन राय की उदारता और दूरदर्शिता ने जिस कार्यप्रणाली का श्रीगणेश किया, वे उसी के सहारे अग्रसर हुए हैं। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन और उनके ब्रह्म-समाज के विभिन्न रूप स्वामी विवेकानन्द के अपेक्षाकृत अधिक सफल और प्रभावशाली आन्दोलन के लिए स्वस्थ पृष्ठभूमि बने।

जन्म और बाल्यकाल

राशिनाम से वीरेश्वर, अन्नप्राशन के समय से जनसाधारण में नरेन्द्रनाथ तथा संन्यास-ग्रहण के पश्चात् स्वामी

विवेकानन्द नाम से प्रख्यात बालक का जन्म १२ जनवरी सन् १८६३ में कलकत्ता नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम था श्री विश्वनाथ दत्त। वे एक सफल वकील थे। वकालत में व्यस्त रहते हुए भी अध्ययन से उनका प्रबल अनुराग था। फारसी और अंग्रेजी साहित्य का उनको अच्छा ज्ञान था। धार्मिक कट्टरता से वे मुक्त थे। कई उच्च घरानों के मुसलमान उनके आसामी थे और इसी निमित्त लखनऊ, इलाहाबाद, दिल्ली, लाहौर आदि की यात्राओं से वे अनेक प्रतिष्ठित मुसलमान परिवारों के सम्पर्क में आ चुके थे। धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में उनका कोई विशेष आग्रह नहीं था। खूब कमाना और खूब खर्च करना ही उनका आदर्श था। स्वातन्त्र्य-प्रेमी, उदार-हृदय, मित्र-वत्सल एवं अतिथिसेवी श्री विश्वनाथ दत्त के घर में किसी लौकिक सुख का अभाव न था।

और मां थीं श्रीमती भुवनेश्वरी देवी। एक आदर्श हिन्दू महिला की प्रतिमूर्त्ति। वे शिव की उपासिका थीं। कहते हैं कि उन्होंने एक बार स्वप्न में देखा––तुषारधवल, कर्पूरगौर, कैलाशपति शिव उनके सामने खड़े हैं। फिर धीरे-धीरे दृश्य बदला। भक्त के विस्मयविमुग्ध हृदय को एक अपूर्व आनन्द से आप्लावित करते हुए भगवान् शिव ने एक छोटे शिशु का रूप धारण कर माता की गोद में शरण ली।

उसी प्रातः उन्होंने उस पुत्र को जन्म दिया जो सही अर्थों में रत्न था। अपने स्वप्न की बात स्मरण कर माता ने बालक का नाम वीरेश्वर रखा जिसे अन्नप्राशन के दिन नरेन्द्रनाथ के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

संसार के अधिकांश महापुरुषों पर उनकी माताओं की

अमिट छाप पड़ी है। नरेन्द्रनाथ भी इसके अपवाद नहीं थे। मां की गोद में बैठकर उन्होंने रामायण और महाभारत की कहानियां सुनी थीं। सुदूर अतीत के उन धर्मवीरों की प्रेरक जीवनियां स्वभाव से ही नटखट बालक नरेन्द्र को आत्मविभोर कर देती थीं। किन्तु उनके आदर्श सीताराम अथवा राधा-कृष्ण की युगल मूर्त्ति नहीं बन सके। बचपन से ही उनके मन में विवाह के प्रति एक विचित्र सी वितृष्णा उत्पन्न हो गई थी। इसीलिए बालक नरेन्द्र ने एक दिन सीताराम की मूर्त्ति को छत से नीचे फेंक दिया और उसके स्थान पर शिव-मूर्त्ति की स्थापना कर दी।

नरेन्द्र को संन्यासवृत्ति तो जैसे अपनी वंश-परम्परा से ही प्राप्त हो गयी थी। उनके पितामह श्री दुर्गाचरण २५ वर्ष की आयु में ही युवा पत्नी और अबोध शिशु को छोड़ कर संन्यासी बन गए थे। नरेन्द्र भी बचपन से ही माता के अनुकरण पर शिवपूजा करते तथा अपने साथियों को बुलाकर शिवमूर्त्ति के चारों ओर ध्यानस्थ होकर बैठा करते थे।

पांच वर्ष की अवस्था में उनका शिक्षारम्भ हुआ। प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र मेट्रोपोलिटन इंस्टीठ्यूशन में भेजे गए। वे बड़े नटखट और चंचल स्वभाव के थे। भय किसे कहते हैं, यह उन्होंने कभी जाना ही नहीं। साधारण बालक हौआ, भूत आदि का नाम सुनकर भयभीत हो जाते हैं परन्तु नरेन्द्र की जिज्ञासा सदा उन भूतों की देखने की हुआ करती थी।

दूसरों से सुनकर किसी भी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र के स्वभाव के विरुद्ध था। बचपन से ही किसी भी

वस्तु पर प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना विश्वास कर लेना वे जानते ही नहीं थे।

चौदह वर्ष की आयु में नरेन्द्रनाथ को उदर-रोग हो गया। उस समय उनके पिता मध्यप्रदेश के अन्तर्गत रायपुर में रहते थे। जलवायु परिवर्तन से स्वास्थ्य सुधार की आशा कर उन्होंने अपने परिवार को भी रायपुर में बुला लिया। उन दिनों यातायात के साधन इतने सुलभ नहीं थे। इलाहाबाद से जबलपुर होकर नागपुर तक रेल से जाना होता था। नागपुर से रायपुर पहुँचने में लगभग पन्द्रह दिन बैलगाड़ी से यात्रा करनी पड़ती थी। किशोर नरेन्द्रनाथ को इस यात्रा में पहली बार भारत के विराट् रूप के दर्शन हुए। इस यात्रा की सजीव स्मृतियाँ जीवन-पर्यन्त उनके मानस पटल पर सजग रहीं।

रायपुर में कार्य की व्यस्तता न होने के कारण उनके पिता के घर में विद्वानों का जमघट सा लगा रहता था। वहां साहित्य, दर्शन आदि विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद होता था जिसमें नरेन्द्र भी बड़े उत्साह से भाग लेते थे। पुत्र की विकासोन्मुख बुद्धि एवं प्रतिभा को भली भांति जानने के लिए विश्वनाथ दत्त उन्हें पुस्तकीय विद्या के भार से अधिक क्लान्त न कर उनसे विभिन्न विषयों पर तर्क किया करते एवं उन्हें स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे।

रायपुर में दो वर्ष के निवास ने नरेन्द्रनाथ के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में अत्यधिक सुधार किया। सोलह वर्ष की आयु में उनके दीर्घ और बलिष्ठ शरीर को देखकर लोग उनकी उम्र का अनुमान बीस वर्ष लगाते थे।

सन् १८७९ में प्रवेशिका-परीक्षा में पास होकर नरेन्द्रनाथ जब कालिज में प्रविष्ट हुए, उस समय उनकी अवस्था अठारह वर्ष की थी। व्यायाम, कुश्ती, क्रिकेट आदि में उनकी विशेष रुचि थी। पर अध्ययन में वे कभी किसी से पीछे नहीं रहे। जनरल असेम्बली कालिज के अध्यक्ष, विलियम हेस्टी बड़े विद्वान्, कवि एवं दार्शनिक थे। हेस्टी साहब नरेन्द्र की प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने एक दिन उक्त कालिज की आलोचना-सभा में नरेन्द्र के दार्शनिक विश्लेषण से सन्तुष्ट होकर कहा था—यह दर्शनशास्त्र का अत्युत्तम छात्र है। जर्मनी और इंगलैण्ड के सारे विश्वविद्यालयों में एक भी ऐसा छात्र नहीं, जो इसके समान मेधावी हो।

एफ. ए. की परीक्षा के पहिले ही उन्होंने मिल आदि पाश्चात्य नैयायिकों के मतवाद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा ह्यूम एवं स्पेंसर के दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था।

पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन शास्त्रों की आलोचना ने नरेन्द्र के हृदय में एक विराट आंधी पैदा कर दी। उनका जन्मगत संस्कार और हृदय में गहरा घुसा हुआ विश्वास चारों ओर की स्थिति के संघर्ष में आकर डगमगाने लगा। इस मानसिक अवस्था में उनकी सत्यानुभूति की लालसा प्रतिदिन बढ़ने लगी। वही प्रश्न उनके सामने भी आकर खड़ा हो गया जो किसी भी सत्यप्राप्ति के मार्ग के पथिक के सम्मुख सबसे पहले आता है—इस इन्द्रिय-ग्राह्य जड़ जगत् के पीछे ऐसा कोई शक्तिमान् पुरुष है या नहीं जिस के संकेत से यह जड़ समष्टि परिचालित हो रही है? इस मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों ने धीरे धीरे उनके

मानस को पागल सा बना डाला। जब कभी कोई धर्म-प्रचारक धर्म या ईश्वर के सम्बन्ध में भाषण देते, तो नरेन्द्रनाथ अपने अशान्त हृदय की व्याकुलता के साथ उनसे पूछ बैठते—

"महाशय, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये हैं ?" आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या करने वाले प्रचारक महोदय इस विचित्र प्रश्नकर्ता के उत्सुक मुखमण्डल की ओर ताकते हुए' हाँ' या' ना' कुछ भी न कह पाते।

उनकी सत्यानुभूति की अभिलाषा बढ़ती ही जा रही थी। इसी प्रेरणा से वे अपने समय के शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन ब्राह्म समाज के सदस्य बने। वे बहुधा महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र के पास चर्चा के लिए जाया करते थे। एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उनसे कहा—"तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में योगियों के चिह्न मौजूद हैं। ध्यान करने से तुम्हें शान्ति और सत्य की प्राप्ति होगी।" महर्षि की इस प्रेरणा से नरेन्द्र का ध्यानानुराग द्विगुणित हो गया। परन्तु उनकी आध्यात्मिक क्षुधा प्रतिदिन बढ़ती ही गयी। उस क्षुधा के साथ ही साथ उनकी व्याकुलता भी बढ़ती गयी। अपने चारों ओर के वातावरण के बीच डूबे हुए भी, पाश्चात्य दार्शनिकों की विचारधाराओं का मनन करते हुए भी तथा युक्तिवादी ब्राह्म होते हुए भी वे सद्‌गुरु की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। एक विराट आध्यात्मिक क्षुधा के आवेश में आकर वे दिनरात सोचने लगे—उन्हें कौन बताएगा कि शान्ति कहां है ? वे किससे पूछें—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ?"

हे भगवान्, भला किसको जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है ?

गुरु की प्राप्ति

सत्य ज्ञान से पहले सत्यानुभूत गुरु को पाना आवश्यक है। कलकत्ते के दक्षिणेश्वर मन्दिर के पुजारी श्री रामकृष्ण देव की तीव्र आत्मानुभूति, निश्छल भक्ति और निस्पृह भावना से प्रभावित होकर कलकत्ते के अगणित जिज्ञासु उस समय उनकी ओर आकर्षित हो रहे थे। सत्य की खोज में भटकते हुए तर्कशील नवयुवक नरेन्द्र को इन्हीं महापुरुष के व्यक्तित्व की सघन छाया में शान्ति की शीतलता प्राप्त हुई। सन् १८८० के नवम्बर मास में परमहंस से उनका प्रथम परिचय हुआ। अपने पड़ोसी श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर एक आनन्दोत्सव पर वे पधारे हुए थे। नरेन्द्र ने उस अवसर पर अपने सुमधुर कण्ठ से कुछ गीत सुनाए जिससे परमहंस बड़े सन्तुष्ट हुए। विदा होते समय उन्होंने नरेन्द्र से दक्षिणेश्वर आने का अनुरोध किया।

इस घटना के पर्याप्त समय पश्चात् अपनी एफ. ए. की परीक्षा समाप्त कर नरेन्द्र अपने कुछ मित्रों सहित दक्षिणेश्वर पहुँचे।

ज्ञानमार्ग के पथिक को योग्य गुरु की जितनी आवश्यकता और उसकी प्राप्ति की जितनी विकलता होती है, उतनी ही, कदाचित् उससे भी अधिक, आवश्यकता और विकलता गुरु को एक योग्य शिष्य की हुआ करती है। और जब वे अनायास एक दूसरे के सम्मुख आ पड़ते हैं तो एक दूसरे को पहचानने में उन्हें अधिक विलम्ब नहीं लगता। चिरकाल से बिछुड़े पिता-पुत्र की भांति आत्मविभोर हो वे एक दूसरे को देखा करते हैं, और फिर प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हो जाते हैं। पुत्र और शिष्य को अपना पिता और गुरु पहचानने में चाहे

कुछ विलम्ब लगे, किन्तु पिता और गुरु को अपना पुत्र और शिष्य पहचानने में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं लगता। परमहंस ने नरेन्द्र को देखते ही भाव विभोर हो, हाथ पकड़-कर स्नेहपूर्ण गद्गद कण्ठ से कहा—

"तू इतने दिन तक मुझे भूलकर कैसे रहा ? कब से मैं तेरे आने की बाट जोह रहा हूँ। विषयी लोगों के साथ बात करते करते मेरा मुँह जल गया है। अब आज से तेरे समान सच्चे त्यागी के साथ बात करके मुझे शान्ति मिलेगी।"

और यह कहते कहते उनकी दोनों आंखों में आंसू उमड़ आये। विस्मय पूर्ण स्थिर दृष्टि से नरेन्द्र इस अद्भुत महात्मा को ताकते रहे—क्या कहें, कुछ सोच न सके।

किन्तु तार्किक नरेन्द्र किसी बात को अनायास स्वीकार करने वाले नहीं थे। उन्हें लगा, कहीं यह पागलपन तो नहीं है ? कहीं वे विक्षिप्त तो नहीं हैं ? पर उनके चाल-चलन में पागलपन और उनकी सामान्य बातों में विक्षिप्त पुरुष के असम्बद्ध प्रलाप का लेशमात्र भी नहीं था। नरेन्द्र की विचार-कुशल सूक्ष्म बुद्धि इस अलौकिक देव मानव के चरित्र का विश्लेषण करने में असमर्थ रही। उन्होंने मन ही मन संकल्प किया, इनकी अच्छी तरह से परीक्षा लिये बिना इन्हें कभी ईश्वर-दर्शी महापुरुष न मानूंगा। अपने इस निश्चय का उन्होंने बड़ी सतर्कता से पालन किया। लगातार तीन वर्ष तक वे परमहंस की परीक्षा लेते रहे और फिर पूरी तरह से संतुष्ट होकर उन्होंने परमहंस के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। पर आत्म-समर्पण से पूर्व, सत्य की खोज में व्याकुल अपने हृदय की तीव्रता से युक्त उस प्रश्न को उन्होंने परमहंस से भी पूछा—

"महाराज, क्या आप ने ईश्वर के दर्शन किए हैं ?"

मृदु हास्य से पूर्ण परमहंस का प्रशान्त मुखमण्डल अपूर्व शान्ति और पुण्य की आभा से उद्भासित हो उठा। उन्होंने तनिक भी सोच-विचार न करते हुए उत्तर दिया, "बेटा, मैंने ईश्वर के दर्शन किए हैं। तुम्हें जिस प्रकार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, उससे भी कहीं अधिक स्पष्ट रूप से मैंने उन्हें देखा है।" नरेन्द्र का विस्मय सौगुना बढ़ाते हुए उन्होंने फिर से कहा—"क्या तुम भी देखना चाहते हो ? यदि तुम मेरे कहे अनुसार करो, तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।"

साधना पथ

तार्किक और उद्धत नरेन्द्र का पहाड़ी नदी जैसा उमगता, उछलता और प्रबल प्रवाहमय व्यक्तित्व एक आत्मविभोर संन्यासी की निरभिमान और शिशुसमान सरलता के विशाल समुद्र में मिलकर एकरूप हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् घर में आए आर्थिक संकट के निवारणार्थ जब वे परमहंस की प्रेरणा से काली मां के सम्मुख भौतिक सुखों की याचना करने गये तो सब कुछ भूलकर वे पुकार उठे—

"मां, विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो, माता तुम्हारी कृपा से सदा ही तुम्हें देख सकूँ।"

और बार बार वे अपने पूर्व संकल्प का स्मरण कर मां के पास भौतिक सुख मांगने जाते पर मांगते क्या ? वही विवेक, वही वैराग्य, वही ज्ञान और वही भक्ति।

नरेन्द्र प्रतिदिन साधना-पथ की ओर अधिकाधिक अग्रसर होने लगे। कलकत्ते के उत्तर भाग में स्थित काशीपुर के एक बगीचे में वे परमहंस तथा अन्य अनेक युवक साधकों के

साथ अपनी एकाग्र साधना की दीप-शिखा को अधिकाधिक प्रज्ज्वलित करने लगे। यहीं पर श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें अन्य साधकों के साथ संन्यास की दीक्षा दी।

संन्यास-ग्रहण के पश्चात् अतीत के युगप्रवर्तक संन्यासियों के जीवन और उपदेश की चर्चा ही उनका कार्य बन गया। ध्यानाभ्यास से एकाग्रचित्त नरेन्द्र जब जिस विषय को आरंभ करते, तब उसी में लीन हो जाते।

एक गम्भीर रात्रि की सर्वत्र व्यापी निस्तब्धता में वे परमहंस की शय्या के पास आ खड़े हुए मन में निर्विकल्प समाधि पाने का दृढ़ संकल्प लेकर। परमहंस ने सस्नेह दृष्टि से उन्हें देखते हुए पूछा—

"नरेन्द्र तू क्या चाहता है?"

उपयुक्त अवसर समझ कर उन्होंने उत्तर दिया—

"शुकदेव की तरह निर्विकल्प समाधि के द्वारा सदैव सच्चिदानन्द में डूबे रहना चाहता हूँ।"

श्री रामकृष्ण परमहंस के नेत्रों में किंचित् अधीरता प्रगट हुई। बोले—"यह कहते तुझे लज्जा नहीं आती? समय आने पर कहाँ तू वटवृक्ष की तरह बढ़कर सैंकड़ों लोगों को शान्ति की छाया देगा, और कहाँ आज अपनी ही मुक्ति के लिए तू व्यग्र हो उठा है। इतना क्षुद्र आदर्श है तेरा?"

नरेन्द्र की आंखों में आंसू आ गये। वे अभिमान के साथ कहने लगे—"निर्विकल्प समाधि न होने तक मेरा मन किसी भी तरह शान्त नहीं होने का। और यदि वह न हुआ तो मैं वह सब कुछ भी न कर सकूंगा।"

परमहंस हंसकर बोले—"वह तू क्या अपनी इच्छा से करेगा? जगदम्बा तेरी गर्दन पकड़कर करा लेंगी। तू न कर, तेरी हड्डियां करेंगी!"

नरेन्द्र की कातर प्रार्थना की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर श्री परमहंस ने अन्त में कहा—"अच्छा जा, निर्विकल्प समाधि तुझे प्राप्त होगी।"

अपने पट्ट शिष्य नरेन्द्र में भावी विवेकानन्द का बीजारोपण तथा* उन्हें सत्य साक्षात्कार की तीव्र अनुभूति से अनुरंजित

---

*साधक नरेन्द्रनाथ दत्त ने अपने लिए विवेकानन्द नाम को सन् १८८३ में अपनी अमेरिका यात्रा से पूर्व तक अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया था। परमहंस श्री रामकृष्ण देव उन्हें नरेन्द्र, या उसका भी संक्षिप्त रूप नरेन, कहकर पुकारते थे। अपनी पहली भारत यात्रा में उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न नामों का अपने लिए प्रयोग किया। कहीं वे स्वामी विविदिशानन्द नाम से प्रगट होते तो कहीं स्वामी सच्चिदानन्द के रूप में। अमेरिका जाते समय जब वे थियोसिफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष कर्नल अलकाट के पास परिचय पत्र लेने गये तो कर्नल उन्हें सच्चिदानन्द के नाम से ही जानते थे।

बम्बई से पूना की यात्रा में, अक्टूबर १८९२ में, उनकी भेंट लोकमान्य तिलक से हुई थी। वे लगभग १० दिन तक तिलक के अतिथि रहे। किन्तु उन दस दिनों में भी तिलक उनका नाम न जान सके। अमेरिका में उनकी विश्वविख्यात सफलता के पश्चात् जब उनके नाम की प्रतिध्वनि सारे संसार में गूंजी तभी तिलक को ज्ञात हुआ कि जो संन्यासी उनके घर बिना नाम प्रगट किये रहे थे, वे विवेकानन्द ही थे।

वस्तुत:, विवेकानन्द नाम का सुझाव उन्हें अमेरिका प्रस्थान के समय उनके मित्र राजा साहब खेतरी ने दिया था। नरेन्द्र ने उस समय इस नाम को अस्थायी रूप से ही स्वीकार किया था। किन्तु बाद में यदि वे चाहते भी तो इसे परिवर्तित नहीं कर सकते थे क्योंकि कुछ ही महीनों में यह सारे संसार में प्रख्यात हो चुका था।

कर परमहंस श्री रामकृष्ण देव ने १५ अगस्त सन् १८८६ को महासमाधि ग्रहण कर अपनी नश्वर देह का त्याग कर दिया।

देश-दर्शन

विवेकानन्द को उनके गुरु ने लोक-कल्याण का भाव भी विरासत में दिया था और इसकी पहली शर्त है समाज को पहचानना, उसके बीच में जाना। इस जान-पहचान के लिए महापुरुष यात्रा करते हैं, परिव्रज्या ग्रहण करते हैं। विवेकानन्द भी परिव्राजक बन कर निकल पड़े।

सन् १८८८ ई० के प्रथम भाग में वे तीर्थभ्रमण की इच्छा से वराह नगर मठ से बाहर निकले। सूर्य उदित होने पर किसी से कहना नहीं पड़ता कि, प्रभात हुआ है। ऐसे ही स्वामी विवेकानन्द जहां कहीं जाते थे, उनका तप्त-कांचन वर्ण, तेजस्वी शरीर सभी को मुग्ध कर लेता था। बिहार एवं उत्तरप्रदेश का भ्रमण करते हुए वे अन्त में भारत की धार्मिक राजधानी, काशी आ पहुंचे।

काशी में उन्होंने अनेक विख्यात साधुओं एवं साधकों से भेंट की। वाराणसी के प्रख्यात साधु श्री विश्वेश्वर जी के द्वितीय विग्रहरूपी श्रीमत् त्रैलिग् स्वामी के दर्शन प्राप्त कर वे प्रसन्न हुए। स्वामी भास्करानन्द जी के गुणों को सुनकर उन्होंने उनके भी दर्शन किये। यहीं उनका परिचय बंग-गौरव पण्डित भूदेव मुखोपाध्याय से हुआ। स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रगट करते हुए भूदेव बाबू ने एक बार कहा—

"मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस तरुण युवक ने इतनी

अल्पायु में इतनी गम्भीर अन्तर्दृष्टि और विपुल अभिज्ञता किस प्रकार प्राप्त कर ली है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में वे एक महान् व्यक्ति बनेंगे।"

कुछ दिन काशी में रह कर वे वराह नगर मठ लौट आए। यहां उन्होंने अपने गुरुभाइयों से एक ही आग्रह किया—भारतवर्ष को देखना होगा, समझना होगा। इन लाखों-करोड़ों नर-नारियों की जीवन-यात्रा के कितने भिन्न-भिन्न स्तरों में कौन सी वेदना, कौन सा अभाव दिन-रात एक अपूर्ण लालसा की ज्वाला भड़का कर उन्हें दग्ध कर रहा है उसे समझना होगा। इस कल्याण व्रत की साधना के लिए केवल स्वार्थ-त्याग ही नहीं बल्कि सर्वस्व त्याग करना होगा, यहां तक कि अपनी मुक्ति की कामना तक को भूल जाना होगा।

कुछ समय मठ में रहकर, वे फिर यात्रा के लिए निकल पड़े। काशी की पुनर्यात्रा करते हुए वे अयोध्या पहुँचे। अयोध्या में रामायत संन्यासियों के साथ श्रीराम संकीर्तन में कुछ दिन बिता कर स्वामी जी लखनऊ और आगरा होते हुए पैदल ही वृन्दावन की ओर अग्रसर हुए। जब वे वृन्दावन के निकट पहुँचे तो उन्होंने देखा कि रास्ते के किनारे एक व्यक्ति निश्चित होकर तम्बाकू पी रहा है। पथ-श्रम से क्लान्त होकर स्वामी जी ने उस आदमी से हाथ बढ़ा कर चिलम मांगी। वह व्यक्ति भयभीत होकर संकोच के साथ बोला, "महाराज, मैं भंगी हूँ। मेहतर!·····"। जन्मजात संस्कारों के वशीभूत होकर स्वामी जी का हाथ अनजाने में ही एकदम पीछे हट गया और उन्होंने फिर अपना रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर जाने पर उन्हें होश आया। उन्होंने

सोचा—मैंने तो जाति, कुल, मान सभी को त्याग कर संन्यास लिया है। फिर मेहतर जानकर मेरा सोया हुआ जाति-अभिमान क्यों जाग उठा ? और वे पश्चात्ताप से व्याकुल हो उठे। वे लौटकर उसके पास गये और बड़े प्रेम से चिलम भरवा कर उन्होंने धूम्रपान किया।

भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि में कुछ दिन व्यतीत कर वे हाथरस की ओर आये। यहां उनकी भेंट हाथरस के स्टेशन मास्टर श्री शरच्चन्द्र गुप्त से हुई। श्री शरच्चन्द्र स्वामी जी के कुछ दिन के सहवास से इतने प्रभावित हुए कि वे सब कुछ उनके चरणों में अर्पण कर उन्हीं के मार्ग के पथिक बन गए। स्वामी विवेकानन्द के ये प्रथम शिष्य, अब स्वामी सदानन्द बन कर, स्वामी जी के साथ ही हृषीकेश की यात्रा करते हुए वराह नगर मठ में आ गए।

बिहार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में पैदल भ्रमण कर तथा तीर्थ स्थानों की यात्रा कर, उन्हें विभिन्न प्रकार के आचार-व्यवहारों और रीति-रिवाज़ों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा, धर्म के प्रति अनुराग की कमी नहीं है, पर समाज के जीवन में स्वाभाविक गतिशीलता का बहुत अभाव है। उन्होंने अनुभव किया कि दोष धर्म का नहीं है, वरन् धर्म के नाम पर धर्म का व्यवसाय करने वाले पुरोहितों और पण्डों का है जिन्होंने समाज-जीवन को पंगु बना रखा है। शत शत वर्षों के विधि-निषेध के अन्धानुकरण ने समाज में जैसे एक ओर वंश और रक्त की श्रेष्ठता का मिथ्याभिमान उत्पन्न किया है, वहां दूसरी ओर उसने हीनता-बोध, विभिन्न सम्प्रदायों तथा अनेकानेक शाखा-प्रशाखाओं वाले कृत्रिम जाति-विभाग को

जन्म दिया है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि यदि हम समग्र भारतवासियों को एक अखण्ड जाति में परिणत करना चाहते हैं, तो हमें इन सब गहरे भिदे हुए संस्कारों के विरुद्ध खड़े होकर यह प्रचार करना होगा कि धर्म की साधना एवं सामाजिक सुख-सुविधा की प्राप्ति में प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है।

जुलाई, सन् १८९० में स्वामी विवेकानन्द ने अपनी व्यापक भारत यात्रा प्रारम्भ की। भागलपुर, देवघर, काशी, अयोध्या और नैनीताल होते हुए वे बदरी-केदार के पथ से अलमोड़ा पहुँचे। इस यात्रा में उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द भी साथ थे। यहां के प्रसिद्ध व्यापारी लाला बद्रीप्रसाद ने इन दोनों संन्यासियों के लिए एक सुन्दर बाग वाला मकान दे दिया। यहां उनके अन्य अनेक गुरुभाई संन्यासी भी उनसे आ मिले। उन सब को लेकर उन्होंने उत्तराखण्ड की यात्रा की। फिर अपने गुरु-भाइयों के स्नेह के माया-बन्धन को तोड़कर वे अकेले ही भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। मेरठ से पंजाब होकर उन्होंने राजस्थान में प्रवेश किया। फरवरी १८९१ में वे अलवर नगर पहुँचे। यहां कुछ एक सद्गृहस्थों के निवास-स्थान पर रहते हुए उनकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। अलवर के दीवान और महाराजा ने भी उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना। एक दिन दीवान के निवास-स्थान पर ही अलवर के महाराज मंगलसिंह ने उनसे एक प्रश्न पूछा—"स्वामी जी, मैंने सुना है कि आप धुरन्धर पण्डित तथा बड़े विद्वान् हैं। आप यदि चाहें तो प्रचुर धन उपार्जन कर सकते हैं। फिर भी आपने भिक्षावृत्ति का अवलम्बन क्यों किया है?"

उन्होंने कहा—"महाराज, पहले मेरे एक प्रश्न का उत्त दीजिये। आप राजकार्य की अवहेलना करते हुए क्यों साहबों के साथ शिकार आदि व्यर्थ के आमोद-प्रमोद में अपना समय बिताते हैं ?"

इस प्रश्न से राज-कर्मचारी स्तम्भित से रह गये। महाराज कुछ क्षण सोचते रहे, फिर बोले—"हां, करता तो हूँ, परन्तु क्यों, यह नहीं कह सकता। इतना जरूर कह सकता हूँ कि वह मुझे अच्छा लगता है।"

विवेकानन्द ने हंस कर कहा—"बस, इसीलिए मैं भी फकीर के वेश में इधर-उधर घूमता फिरता हूँ क्योंकि वह मुझे अच्छा लगता है।"

अलवर से वे जयपुर गये। यहां राज्य के एक सभा-पण्डित से उन्होंने पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। जयपुर से वे अजमेर गए। यहां उन्होंने कुछ समय तक एक उदारहृदय मुसलमान सज्जन का आतिथ्य ग्रहण किया। यहीं उनका परिचय खेतरी के राजा के सेक्रेटरी मुँशी जगमोहन लाल और उनके माध्यम से खेतरी के राजा साहब से हुआ। राजा साहब ने उनसे प्रश्न किया—"यह जीवन क्या है ?"

उनका उत्तर था—"एक अन्तर्निहित शक्ति मानों लगातार अपने स्वरूप में व्यक्त होने के लिए अविराम चेष्टा कर रही है और बाह्य प्रकृति उसे दबा रही है। इसी चेष्टा का नाम जीवन है।"

खेतरी के राजा अजीतसिंह स्वामी विवेकानन्द की अद्भुत ज्ञान-गरिमा एवं सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत प्रभावित हुए और आजीवन उनके बड़े अनन्य शिष्य हो गये।

खेतरी से गुजरात के रेगिस्तानी अंचलों को पैदल ही पार कर अहमदाबाद, लिंबड़ी, जूनागढ़, भोज, भेरावल व प्रभास होते हुए सोमनाथ का दर्शन कर वे पोरबंदर पहुँचे। पोरबंदर में विख्यात विद्वान् पण्डित शंकर पाण्डुरंग से महा-भाष्य का अध्ययन कर वे द्वारका, माण्डवी, पालिताणा आदि स्थानों की यात्रा करते हुए बड़ोदा में राज्य के दीवान मणिभाई के अतिथि बने। वहां से मध्यभारत के कुछ स्थानों की यात्रा करते हुए वे बम्बई पहुँचे।

१८६२ के सितम्बर मास में बम्बई से पूना जाने वाली रेलगाड़ी के एक दूसरी श्रेणी के डिब्बे में विवेकानन्द बैठे हुए थे। डिब्बे में और भी तीन महाराष्ट्रीय युवक यात्री थे। उनमें घोर तर्क युद्ध छिड़ा हुआ था। तर्क का विषय था संन्यास। दो युवक संन्यास की अकर्मण्यता तथा उसके दोषों का प्रदर्शन कर रहे थे, तीसरा व्यक्ति उनके मतों का खण्डन कर संन्यास की महिमा का गुणगान कर रहा था। पास बैठे संन्यासी विवेकानन्द इन तर्करत युवकों की युक्ति और उक्तियों को ध्यान से सुन रहे थे। अंत में संन्यास-समर्थक युवक का पक्ष लेकर वे भी युद्ध में उतर पड़े। इस अंग्रेज़ी जानने वाले संन्यासी की प्रखर प्रतिभा से वे युवक बहुत प्रभावित हुए। उन तीन युवकों में संन्यास का समर्थन करने वाले युवक अन्य कोई नहीं, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ही थे। पूना स्टेशन पर उतरकर तिलक विवेकानन्द को अपने निवास-स्थान पर ले गये। आधुनिक भारत के इन दो महान् निर्माताओं का यह कैसा अद्भुत मिलन था।

पूना से महाबलेश्वर, बेलगांव की यात्रा करते हुए विवेका-नन्द बंगलौर पहुँचे। यहाँ वे मैसूर राज्य के अतिथि हुए।

एक दिन दीवान बहादुर के सभापतित्व में राजप्रासाद में एक विचार सभा बुलाई गई। बंगलौर के प्राय: सभी विद्वान् इस सभा में सम्मिलित हुए। वेदान्त के विषय पर विचार प्रारम्भ हुआ। विद्या में पारंगत पण्डितगण वेदान्त के विभिन्न मतवादों का समर्थन कर एक-दूसरे के मत का बड़े आग्रह से खण्डन कर रहे थे। तर्क-वितर्क में बहुत समय गंवाकर भी किसी निर्णय पर न पहुँचा जा सका। अन्त में दीवान बहादुर के अनुरोध से स्वामी विवेकानन्द ने अपूर्व युक्ति द्वारा प्रमाणित कर दिया कि—वेदान्त के विभिन्न मतवाद परस्पर विरोधी नहीं, वरन् एक दूसरे के समर्थक हैं। वेदान्त शास्त्र कुछ दार्शनिक मतवादों की समष्टि नहीं, वरन् साधक जीवन की विभिन्न स्थितियों में अनुभूत सत्यों का समूह है। अत: एक की सत्यता प्रमाणित करने के लिए ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होने वाले दूसरे को मिथ्या प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वेदान्त की यह नवीन व्याख्या सुनकर उपस्थित पण्डित मण्डली आश्चर्य चकित रह गयी।

बंगलौर से विवेकानन्द त्रिचुण्ड, त्रिवेन्द्रम् होकर मदुरा गये। मदुरा में कुछ दिन बिताकर दक्षिण भारत की वाराणसी रामेश्वर में भगवान् रामचन्द्र द्वारा स्थापित शिवलिंग तथा अन्य मन्दिरों का दर्शन कर वे कन्या कुमारी की ओर चल पड़े।

कन्याकुमारी में स्वामी विवेकानन्द को प्रकृति के उस अद्‌भुत स्वरूप के दर्शन हुए जिसका दर्शन उत्तरापथ में उन्हें हृषिकेश में हुआ करता था। उन्होंने देखा—सामने वायु से आन्दोलित तरंगों के विक्षोभ से पूर्ण, उच्छ्‌वसित सुनील महासागर, पीछे

पर्वत, मैदान तथा अरण्यों से सुशोभित शस्यश्यामला भारत माता। पर उस माता का एक दूसरा रूप भी है—दुर्भिक्ष, महामारी, दुख-दैन्य, रोग-शोक से जर्जरित पराधीन भिखारिणी सी मां। और पता नहीं कितने क्षण वे उस कल्पना में डूबे रहे।

कन्याकुमारी छोड़ रामनद के बीच में से होकर वे फ्रांसीसियों द्वारा अधिकृत पांडिचेरी आये। यहां थोड़े ही समय में कुछ शिक्षित युवक उनके अनुरागी बन गये। यहीं एक दक्षिणी कट्टर ब्राह्मण विद्वान् के साथ उनका वाद-विवाद हुआ। स्वामी विवेकानन्द के उन्नतिशील प्रस्तावों पर युक्ति के बदले गालियों की बौछार करते-करते पण्डित जी आग बबूला हो गये। उसी समय स्वामी जी युवकों को संबोधित करते हुए बोले—"धर्म के नाम पर प्रचलित आचार-व्यवहार वास्तव में धर्म है या नहीं, इसकी परीक्षा कर देखने का दायित्व आज के शिक्षित् युवकों के कंधे पर आ पड़ा है। हमें अतीत व प्रचलित प्रथा की सीमा से बाहर निकल कर वर्तमान उन्नतिशील जगत की ओर दृष्टिपात करना होगा। यदि हम देखें कि परम्परागत आचार-नियम समाज के विकास व परिपुष्टि के पथ में विघ्न उत्पन्न कर रहे हैं, यदि वे हमारी विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े के सदृश हैं, तो हम जितना शीघ्र उनका त्याग कर दें उतना ही अच्छा है।"

पांडिचेरी से वे मद्रास आये। कुछ ही दिनों में उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता की चर्चा सारे शिक्षित समाज में पहुँच गयी। विश्वविद्यालय के लब्ध-प्रतिष्ठ छात्र और अध्यापक प्रतिदिन उनके पास धर्म व साहित्य की चर्चा के लिए आने लगे और अनेकों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। इन्हीं

दिनों एक सुप्रसिद्ध नास्तिक, ईसाई कालेज के विज्ञान के अध्यापक, श्री सिंगरावेलु मुदलियार उनसे तर्क-वितर्क करने आए। परन्तु वे उनके व्यक्तित्व एवं गंभीर अध्ययन से युक्त भावनात्मक उपलब्धि से इतने प्रभावित हुए कि उनके शिष्य ही बन गये। आगे चलकर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्थापित 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी पत्रिका का संपादन संभाला।

इस समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में शिकागो महा-सम्मेलन के साथ ही एक विराट् धर्मसभा का आयोजन हो रहा था। घोषित किया गया था कि पृथ्वी के सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधि व्याख्याताओं के रूप में सभा में सम्मिलित हो सकेंगे। स्वामी जी के कुछ उत्साही मद्रासी शिष्यों ने उन्हें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजने का संकल्प किया। परन्तु स्वामी जी ने उस समय उस प्रस्ताव को टाल दिया। इसी समय उन्हें हैदराबाद से निमन्त्रण प्राप्त हुआ और वे १० फरवरी को हैदराबाद पहुँचे। स्टेशन पर हैदराबाद के अनेक गण्य-मान्य नागरिक उनका स्वागत करने के लिए उपस्थित थे। यहां उनका महबूब कालेज में सुशिक्षित वर्ग के सम्मुख "पाश्चात्य देशों के लिए मेरा सन्देश" विषय पर व्याख्यान हुआ।

१७ फरवरी को वे हैदराबाद से मद्रास लौट आए। मद्रास में उनके अनुरागी बड़े उत्साह से उन्हें शिकागो की धर्मसभा में भेजने की तैयारी कर रहे थे। परन्तु उनके मन में अभी भी पर्याप्त संकोच था कि इतनी बड़ी सभा में वे हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करने के योग्य हैं या नहीं। अन्त में वे इस महान् कार्य के लिए उद्यत हो गए। भारत के श्रेष्ठतम

ग्राध्यात्मिक सत्य का संसार को परिचय देने के लिए ग्रौर ग्रपने ग्राचार्य श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेश—सभी धर्म सत्य हैं ग्रौर वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न उपाय मात्र हैं—का प्रचार करने के लिए, ३१ मई सन् १८९३ ई० को स्वामी विवेकानन्द ने बम्बई से ग्रमेरिका को प्रस्थान किया। प्रस्थान से पूर्व उन्होंने माता शारदा देवी (परमहंस की पत्नी) से भी ग्रनुमति एवं ग्राशीर्वाद प्राप्त कर लिया। खेतरी के राजा साहब की ग्रोर से उनके लिए एक बहुमूल्य रेशम का चोगा ग्रौर पगड़ी भेंट की गयी।

विदेश यात्रा

तरुण संन्यासी विवेकानन्द की यह यात्रा सचमुच एक बड़ी साहसिक यात्रा थी। भारत में उन्होंने शिकागो में होने वाले सर्व-धर्म-सम्मेलन की चर्चा भर सुनी थी। न उन्हें उसकी निश्चित तिथि का ज्ञान था, न ही प्रवेश नियमों का परिचय ग्रौर न कोई प्रमाणपत्र। भारत में उनके किसी भी उत्साही शिष्य ने इन सब महत्वपूर्ण बातों की ग्रोर विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल ग्रात्म-विश्वास का सहारा लेकर वे निकल पड़े।

बम्बई से उनका जलयान कोलम्बो, पेनांग, सिंगापुर, हांगकांग, कैण्टन होता हुग्रा जापान के नागासाकी नगर में पहुँचा। उन्होंने इन सुन्दर पूर्वी देशों में प्राचीन संस्कृति के सशक्त चिह्न देखे। जापान के नागासाकी, कोबी, याक़ोहामा,

ओसाका, किओटो और टोकियो आदि नगर देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। जापानियों के अद्‌भुत उत्साह, लगन और उद्यमशीलता को देखकर उन्होंने एक बड़ा ही मार्मिक पत्र अपने मद्रासी शिष्यों को लिखा—

"देश छोड़कर बाहर जाने में तुम लोगों की जाति बिगड़ जाती है। हजारों वर्षों के पुराने इस कुसंस्कार का बोझ सिर पर धरे हुए तुम लोग बैठे हो......पौरोहित्य रूपी मूर्खता के गम्भीर आवर्त में चक्कर काट रहे हो..... तुम्हारा प्राण तथा मन भी उस तीस रुपये की क्लर्की पर निछावर है ......और नहीं तो किसी हद तक एक दुष्ट वकील बनने का मतलब साध रहे हो। यही भारतीय युवकों की सर्वोच्च दुराकांक्षा है।

"आओ, मनुष्य बनो। पहले तो इन दुष्ट पुरोहितों को दूर करो, क्योंकि ये मस्तिष्कहीन लोग कभी अच्छी बातें नहीं मानेंगे—उनका हृदय शून्य है जिसका विकास कभी न होगा। सैकड़ों सदियों के कुसंस्कारों व अत्याचारों के बीच उनका जन्म हुआ है। पहिले उनका उच्छेद करो। आओ, मनुष्य बनो। अपने संकीर्ण अंधकूप से निकल कर बाहर जाकर देखो, सभी राष्ट्र कैसे उन्नति कर रहे हैं।"

याकोहामा से प्रशान्त महासागर पार करके जहाज बैकुंवर बंदरगाह में पहुँचा। यहां से रेल द्वारा कैनेडा के बीच तीन दिन चलने के बाद वे शिकागो पहुँचे और एक होटल में टिके। यहां उन्हें ज्ञात हुआ कि सर्व-धर्म-सम्मेलन सितम्बर के प्रथम सप्ताह से पहिले प्रारम्भ न होगा और उसके प्रतिनिधि बनने के लिए भेजे जाने वाले आवेदन पत्रों की तिथि समाप्त हो चुकी थी। इस प्रकार शिकागो सम्मेलन में भाग ले सकने की उनकी आशा पूर्णतया नष्ट हो गयी और वे अपने आप को

भाग्य के सहारे छोड़ बोस्टन की ओर चल दिए। मार्ग में एक भद्र महिला उनकी विचित्र वेशभूषा देखकर आकर्षित हुई और कुछ परिचय प्राप्त कर वह उन्हें अपने घर ले गयी। इस महिला के घर के अनुभवों पर उन्होंने कुछ पंक्तियां लिखीं—

"यहां पर रहने से मेरी पहिली जो सुविधा हुई है वह यह कि प्रतिदिन जो मेरा एक पौण्ड के हिसाब से खर्च हो रहा था वह बच रहा है और उनका लाभ यह है कि वे अपने मित्रों को आमन्त्रित कर भारत से आए हुए एक अद्भुत जीव को दिखा रही हैं।"

इसी महिला के निवास-स्थान पर उनका परिचय हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा के विख्यात प्रोफेसर मि. जे. एच. राइट महोदय से हुआ। वे कुछ क्षण के वार्तालाप से ही बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने स्वामी जी को शिकागो सम्मेलन में भाग लेने की प्रेरणा दी। स्वामी जी ने जब अपनी कठिनाइयां रखीं तो वे आश्चर्यचकित होकर बोले—

To ask you Swami for your credentials is like asking the Sun to state its right to shine.

(स्वामी, आपसे प्रमाण पत्रों के लिए पूछना सूर्य को उसके चमकने का अधिकार बताने के लिए पूछने के समान है।)

राइट साहब ने उक्त महासभा से सम्बन्धित अपने मित्र मि. बर्नी के नाम एक पत्र लिखकर स्वामी जी के हाथ में दे दिया। उस पत्र में अन्य बातों के साथ यह भी लिख दिया— 'मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी, हमारे सभी पण्डितों की सामुदायिक विद्वत्ता से भी अधिक विद्वान् है।"

वे बड़े उत्साह से बोस्टन से शिकागो के लिए रवाना हुए पर नियति के चक्र ने अपनी परीक्षा के क्रम को अभी रोका नहीं था। शिकागो उतरते ही उनके पास से परिचय-पत्र कहीं खो गया। उन्होंने रास्ते के दो चार यात्रियों से कुछ पूछने का प्रयास किया पर वे उन्हें नीग्रो समझ कर घृणा से मुँह फेर कर चले गए। उन्हें किसी होटल में भी स्थान नहीं मिला। रात्रि किस प्रकार व्यतीत हो?

चारों ओर शीतकाल की प्रखर वायु चल रही थी, वर्फ गिरना शुरू हो गयी थी और उनके पास पर्याप्त गर्म कपड़े भी नहीं थे। कहीं आश्रय न पाकर उन्होंने रेलवे के माल गुदाम के सामने पड़े एक बड़े से पैकिंग बाक्स में प्रवेश किया और किसी प्रकार रात्रि व्यतीत की। प्रातः निराहार वे राजपथ पर निकल पड़े। प्रबल क्षुधा से उनका शरीर शिथिल हो रहा था। उन्होंने निरुपाय होकर द्वार-द्वार पर भिक्षा मांगी, पर उनके मैले फटे वस्त्र तथा क्लान्त मुख मण्डल को देखकर लोगों ने मुंह बिचका लिया। किसी ने गाली दी तो किसी ने द्वार ही बंद कर लिया। निराश होकर वे सड़क के किनारे बैठ गये। सहसा उनके सामने के भवन का द्वार खुला और एक अपूर्व सुन्दरी रमणी ने धीरे से आकर उनसे पूछा—"महाशय, क्या आप धर्म-सभा के प्रतिनिधि हैं?" स्वामी जी ने उसे अपनी स्थिति बतलाई। इस सहृदय महिला, मिसेज़ जार्ज डबल्यू. हैल ने उनकी बहुत सहायता की और उन्हें धर्म-सभा के अधिवेशन में ले गयी। वहां वे प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिए गए एवं अन्य प्रतिनिधियों के साथ रहने का स्थान भी मिल गया।

११ सितम्बर १८९३ ई० संसार तथा आधुनिक भारत के इतिहास का एक स्मरणीय दिन है। प्राच्य एवं पाश्चात्य विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि इसी दिन यहां सम्मिलित हुए थे। भारत से इस अधिवेशन में भाग लेने के लिए ब्रह्म-समाज के प्रतापचन्द्र मजूमदार व बम्बई के नगरकर, जैन-समाज के प्रतिनिधि के रूप में वीरचन्द्र गांधी तथा थियोसोफी के प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा चक्रवर्ती उपस्थित हुए थे। परन्तु इन सब में केवल विवेकानन्द ही थे जो सबसे अल्पायु थे, तेजस्वी थे और जो किसी एक मतवाद का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे, जो किसी सम्प्रदाय के नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के प्रतिनिधि थे। उनका तेजस्वी मुख-मण्डल और चित्ताकर्षक व्यक्तित्व देखकर सभी उनकी ओर आकृष्ट हुए।

अधिवेशन में सभी प्रतिनिधियों का परिचय कराया गया और परिचय के समय उनसे कुछ बोलने के लिए कहा गया। सभी प्रतिनिधि अपने भाषण लिखकर लाए थे, किन्तु विवेकानन्द ने तो कुछ भी तैयारी नहीं की थी। इसके पूर्व उन्होंने इतनी बड़ी सभा में कभी भाषण भी नहीं दिया था। किन्तु जब वे बोलने के लिए खड़े हुए और बड़े साधारण ढंग से उन्होंने उपस्थित समुदाय को अपने इन प्रारम्भिक शब्दों से संबोधित किया—

"अमेरिका निवासी बहनो और भाइयो।" सैकड़ों व्यक्ति अपनी सीटों पर तीव्र करतल ध्वनि करते हुए खड़े हो गए। उनके लिए यह संबोधन बिल्कुल नया था, किन्तु ऐसा था जो उनके मर्मस्थान को स्पर्श कर गया। उन्होंने अपने भाषण में संसार के सबसे नवीन राष्ट्र अमेरिका का अपनी

पद्धति से अभिनन्दन किया। फिर उन्होंने 'हिन्दुत्व' को सभी धर्मों की जननी बतलाते हुए उसके मूल मंत्र की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया—"एक दूसरे को समझो और स्वीकार करो।" उन्होंने शास्त्रों से दो उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किये—

"जो कोई भी जिस किसी मार्ग से चाहे, मेरे पास आ सकता है।"

"सभी मनुष्य उन मार्गों के लिए झगड़ रहे हैं जो अंत में मेरी ओर ही आते हैं।"

अन्य सभी वक्ताओं ने अपने ईश्वर और अपने मत की चर्चा की थी। केवल विवेकानन्द थे जिन्होंने सभी के ईश्वरों की और सभी की महत्ता को स्वीकार किया।

१९ सितम्बर को उन्होंने अपना प्रख्यात भाषण 'हिन्दू-धर्म' विषय पर दिया। कुछ लोगों ने आलोचना की कि विवेकानन्द ने जिस हिन्दू धर्म की चर्चा की है वह वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म नहीं है। २२ सितम्बर की आलोचना सभा में उन्होंने उसी विषय पर नये तर्कों के साथ एक और आकर्षक भाषण दिया और उसी दिन सायंकाल प्रतिवादियों द्वारा उठाई हुई विद्वेषपूर्ण युक्तियों का बड़ी दृढ़ता के साथ खण्डन किया।

२५ तारीख को जिस समय उन्होंने 'हिन्दू धर्म का सार' नामक भाषण देते देते सहसा नीरव होकर उपस्थित जनसमूह को लक्ष्य करके प्रश्न किया—

"इस सभा में जो हिन्दू धर्म व शास्त्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिचित हैं वे हाथ उठाएं।" तो प्रायः सात हजार व्यक्तियों के बीच में से केवल तीन चार हाथ उठाए गए।

योद्धा संन्यासी मस्तक ऊँचा उठाकर दोनों बाहुओं को दृढ़ता के साथ छाती पर बांध कर भर्त्सना के साथ गरजता बोला—"और फिर भी तुम हमारे धर्म की समालोचना करने की स्पर्धा करते हो ?" समस्त सभा मूक बनी रही।

सर्वधर्म-सम्मेलन के अधिवेशन के अन्तिम दिवस, २७ सितम्बर को, अपने भाषण में विवेकानन्द ने वज्रकण्ठ से घोषित किया—"जो लोग इस सभा की कार्य-प्रणाली का निरीक्षण करने के बाद भी हृदय में इस प्रकार की भावना रखते हैं कि कोई विशेष धर्म किसी समय जगत् का एकमात्र धर्म हो जाएगा अथवा कोई विशेष धर्म ही ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र उपाय है, और दूसरे धर्म भ्रान्त हैं, वे वास्तव में दया के पात्र हैं।"

उन्होंने कहा—"प्रत्येक जाति या धर्म दूसरी जाति या धर्मों के साथ आपस में भावों का आदान-प्रदान करता हुआ अपनी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगा तथा अपनी अपनी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार उन्नति की ओर अग्रसर होगा। आज के सभी धर्मों के झण्डों पर लिख दो—युद्ध नहीं, सहायता। ध्वंस नहीं—आत्म-समीप करना, भेद-द्वंद्व नहीं—सामंजस्य एवं शान्ति।"

विवेकानन्द के इन सभी भाषणों का इतना जबरदस्त प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण अमेरिका में तहलका मच गया। कल तक अनजाना, ठुकराया, निराश्रित और उपेक्षित अश्वेत संन्यासी आज एकाएक अमेरिका का सर्वाधिक प्रसिद्ध और आकर्षक व्यक्ति बन गया। 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा—

"शिकागो धर्म सम्मेलन में निस्संदेह विवेकानन्द ही सबसे महान् व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर हम अनुभव करते

हैं कि इतने विद्वान् राष्ट्र (भारत) में मिशनरियों को भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है।"

५ अप्रैल १८९४ के अंक में 'बोस्टन ईवनिंग ट्रेन्सक्रिप्ट' ने मत प्रगट किया—"वे वास्तव में एक महापुरुष, उदार, सरल व ज्ञानी हैं। वे हमारे देश के विद्वानों से बिना किसी तुलना के ही कई गुना अधिक विद्वान् हैं।"

स्वामी विवेकानन्द के बड़े बड़े चित्र शिकागो नगर में रास्ते रास्ते पर लटका कर रखे गए। उनके नीचे लिखा था—'संन्यासी विवेकानन्द।'

शिकागो महासभा की विज्ञान सभा के सभापति मि. स्केल ने लंदन के सुप्रसिद्ध पत्र 'पायोनिअर' में उक्त महासभा का विवरण देते हुए लिखा—

"हिन्दू धर्म ने इस महासभा और जनसाधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म समर्थ नहीं हुआ। हिन्दू धर्म के एकमात्र आदर्श प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से सबसे अधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली व्यक्ति हैं। उन्होंने इस धर्म-सम्मेलन के व्याख्यान मंच पर तथा विज्ञान-शाखा की सभा में अनेक भाषण दिए हैं। वे जहां भी जाते हैं, वहीं जनता की भीड़ उमड़ पड़ती है और लोग उनकी प्रत्येक बात सुनने के लिए आग्रह के साथ उत्कंठित रहा करते हैं। घोर कट्टर ईसाई भी उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं—स्वामी विवेकानन्द मनुष्यों के बीच में 'अतिमानव' हैं।"

इस अभूतपूर्व देशव्यापी सम्मान और प्रतिष्ठा ने उनके लक्ष्य को एक क्षण के लिए भी उनके नेत्रों के सम्मुख धूमिल नहीं होने दिया। उन्हें यह कभी नहीं भूला कि वे धार्मिक

दृष्टि से सम्पन्न किन्तु आर्थिक दृष्टि से अति विपन्न एक राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं। धर्म सभा में सभी ईसाइयों को सम्बोधित करते हुए बड़ी निर्भीकता से उन्होंने प्रश्न किया—

"दरिद्र पौत्तलिकों की पापी आत्मा के उद्धार के लिए तुम लोग लाखों रुपये लगाकर मिशनरियों को भेज रहे हो, क्या उनके शरीर को बचाने के लिए दो दाने अन्न की व्यवस्था कर सकते हो? जब लाखों हीदन (Heathen) दुर्भिक्ष में भूखों मरते हैं तब तुम ईसाई उन्हें बचाने के लिए क्या करते हो? तुमने भारत के नगर नगर में बड़े बड़े गिरजा घर बनवाए हैं परन्तु धर्म हमारा यथेष्ट है। हम रोटी मांग रहे हैं और तुम दे रहे हो पत्थर के टुकड़े। क्या भूखों के दुःख कष्ट की ओर न देखते हुए उन्हें धर्मोपदेश या दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने की चेष्टा करना मनुष्यत्व का अपमान करना नहीं है?"

धर्म सभा समाप्त होने के साथ ही एक 'व्याख्यान कम्पनी' ने स्वामी जी को अमेरिका के विभिन्न नगरों में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने इस प्रस्ताव से सहमत होकर अमेरिका के विभिन्न नगरों में भाषण देना प्रारम्भ किया। लोकप्रिय संन्यासी के नवीन संदेश को अमेरिका निवासी उत्साह के साथ सुनने लगे। प्रत्येक नगर में उनका उन्मुक्त सम्मान हुआ। स्थान स्थान से उन्हें निमन्त्रण आने लगे।

शिकागो धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द की विश्व विख्यात सफलता का समाचार जब भारत पहुँचा, तो सभी स्थानों पर उत्तेजनामिश्रित आनन्दोल्लास की लहर फैल

गयी। स्थान स्थान पर विराट् सभाएं आयोजित की गईं और देश के गण्य मान्य विद्वानों द्वारा उन्हें इस महान् सफलता पर बधाइयां दी गयीं।

शिकागो धर्म-सम्मेलन की समाप्ति के बाद प्रायः एक वर्ष तक स्वामी विवेकानन्द अमेरिका के विभिन्न नगरों में भाषण देते रहे। फरवरी १८९४ में उन्होंने डिट्राइट यूनिटेरिअन चर्च में धारावाही रूप से भाषण दिए। मार्च, अप्रेल, मई और जून में शिकागो, बोस्टन और न्यूयार्क के चारों ओर स्थित छोटे बड़े नगरों में अविराम व्याख्यान देने के पश्चात् वे न्यू इंगलैण्ड के अन्तर्गत 'ग्रीन एकर' के एक सम्मेलन में भाषण देने के लिए गये। फिर अक्तूबर मास के अन्तिम भाग में बाल्टिमोर व वाशिंगटन नगर में भाषण देकर न्यूयार्क लौटे। न्यूयार्क की एक छोटी सी पारिवारिक सभा में 'ब्रूकलिन नैतिक सभा' के सभापति, डा० लुइस जी. जेम्स स्वामी जी के भाषण सुन कर बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने उक्त नैतिक सभा में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में भाषण देने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया और उस सभा की ओर से वे 'पौच मेन्शन' नामक विशाल भवन में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में हज़ारों श्रोताओं के सम्मुख प्रतिदिन धारा-प्रवाह रूप से भाषण देने लगे।

ब्रुकलिन नैतिक सभा में दिये हुए भाषणों को ही स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त प्रचार कार्य का प्रारम्भ माना जा सकता है। इस समय से उन्होंने घूम फिरकर भाषण देना बंद कर न्यूयार्क में स्थायी रूप से वेदान्त और योग की शिक्षा देने के लिए एक कक्षा खोलने का निश्चय किया। फरवरी १८९५ में यह कार्य नियमित रूप से प्रारम्भ हुआ। यद्यपि

उनका विरोध कर उनके मार्ग में रोड़े अटकाने के लिए भी कुछ प्रतिपक्षी धर्मों एवं मतों द्वारा प्रयास हुआ, परन्तु वे अविचलित भाव से अपने कार्य में संलग्न रहे।

इस कक्षा में स्वामी जी धारा-प्रवाह रूप से ज्ञानयोग और राजयोग पर भाषण देने लगे। उत्सुक छात्र और छात्राएं स्थानाभाव के कारण भारतीय पद्धति के अनुसार जमीन पर पैर समेट कर बैठते। राजयोग पर दिए गए भाषणों की ख्याति इतनी व्यापक हुई कि जिस दिन राजयोग के सम्बन्ध में भाषण देने का कार्यक्रम रहता, उस दिन नगर के दार्शनिक, वैज्ञानिक और अध्यापकों के आगमन से उनका छोटा सा कमरा भर जाता और वे बड़ी लगन से उनकी योग-शास्त्र की युक्तिपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या सुनते। जून मास में उनके इन भाषणों का संग्रह करके 'राजयोग' पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का इतना स्वागत हुआ कि प्रकाशित होने के कुछ ही सप्ताहों में उसके तीन संस्करण निकल गए।

इसी बीच उन्होंने अनेक प्रतिष्ठित शिष्य तथा प्रचार कार्य के लिए सभी तरह के सहायक मित्र प्राप्त कर लिए। उनमें से मैडम मेरी लुई (स्वामी अभयानन्द), डा० सैन्ट्स वर्ग (स्वामी कृपानन्द), मिसेज ओली बुल, डा० एलेन डी, मिस वाल्डो, प्रोफेसर वेमैन ओ'राइट, डा० स्ट्रीट तथा अनेक शिक्षित एवं मान्य व्यक्ति उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। कुछ दिनों के पश्चात् विख्यात गायिका मैडम कैलवे ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

सतत उच्चतम दार्शनिक तत्वों की चर्चा का विश्लेषण करते हुए भाषण देने तथा शिक्षा-दान के कार्य से थक कर वे अपनी एक शिष्या के, सेन्ट लौरेन्स नदी के बीच सहस्र

द्वीपोद्यान (Thousand Island Park) नामक द्वीप में स्थित एक सुन्दर स्थान पर विश्राम करने चले गए। वहां उनके साथ जो शिष्य-शिष्याएं गयीं, उनमें से एक, मिस. एस. ई. वाल्डो ने लिखा—

"स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति के साथ निवास करना ही लगातार उच्च अनुभूतियों को प्राप्त करना है। प्रातःकाल से रात्रि तक वही एक भाव—हम एक घनीभूत धर्मभाव के राज्य में निवास करते हैं।"

इंगलैण्ड गये

इस विश्राम स्थल से न्यूयार्क लौट कर स्वामी विवेकानन्द ने इंगलैण्ड जाने की तैयारी की। इंगलैण्ड से उन्हें बार बार निमन्त्रण मिल रहे थे। इसलिए अगस्त १८९५ में वे पेरिस होते हुए इंगलैण्ड पहुँच गये।

इन्हीं दिनों भारत में ईसाई मिशनरियों तथा कुछ अन्य स्वार्थी वर्गों द्वारा विवेकानन्द के विरुद्ध अनेक प्रकार का कुत्सित प्रचार होने लगा। उनके आचार-व्यवहार आदि का निन्दनीय विवरण देकर छोटी-छोटी पुस्तकें तथा हैण्ड बिल आदि बँटने लगे। अपने भारतीय शिष्यों के मन में शंका-बीज को जन्म लेता देख उन्होंने अपने शिष्यों को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने बड़ी कड़ी भाषा में अपने विरुद्ध किये जाने वाले दूषित प्रचार का खण्डन किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा—

"अपने जीवन का उद्देश्य मैं भली भांति जानता हूँ।

किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला तथा निन्दा आदि की मैं परवाह नहीं करता ! ·····ईश्वर और सत्य ही मेरी एकमात्र राजनीति है······बाकी जो कुछ है, केवल कूड़ा-कर्कट है ।"

इंगलैण्ड के निवासियों को स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिकनों से कम प्रभावित नहीं किया। वे जिस ओर भी अपना भाषण देने गए, जनता की भीड़ उन्हें देखने और सुनने के लिए उमड़ पड़ी। शायद इसीलिए अंग्रेज़ों ने उन्हें तूफानी हिन्दू (Cyclonic Hindoo) कहा।

एक दिन उन्होंने 'पिकडेली प्रिन्सेस हाल' में आत्मज्ञान के विषय पर गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों से पूर्ण एक भाषण दिया। यह भाषण इतना उच्चकोटि का था कि दूसरे दिन प्रमुख समाचार पत्रों में उसका विस्तृत विवरण प्रकाशित हुआ। 'दि स्टैण्डर्ड' पत्रिका ने लिखा—

"राममोहन के बाद एकमात्र केशवचन्द्र को छोड़ कर प्रिन्सेस हाल में इस हिन्दू वक्ता की तरह और कोई भी शक्तिशाली भारतीय व्यक्ति इंगलैण्ड के व्याख्यान मंच पर अवतीर्ण नहीं हुआ।"

'दि लण्डन डेली क्रानिकल' ने लिखा—"लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द के अंग प्रत्यंगों में बुद्धदेव के मुख (The classic face of Buddha) का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है।"

'वेस्ट मिनिस्टर' के प्रतिनिधि को दी हुई एक भेंट में स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट घोषित किया—

"किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना करना मेरा अभिप्राय नहीं है, किसी विशेष धर्ममत का भी मैं प्रचारक नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि वेदान्त के उदार ज्ञान को सभी धर्म सम्प्रदाय

अपनी अपनी धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए ग्रहण कर सकते हैं।"

यहीं उनकी भेंट एक स्कूल-अध्यापिका, असाधारण विदुषी मिस मार्गारेट नोबल से हुई। इन्हीं मिस नोबल ने स्वामी विवेकानन्द को अच्छी तरह परख कर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और भगिनी निवेदिता के नाम से सम्पूर्ण भारत में प्रख्यात हुईं।

स्वामी विवेकानन्द ने इंगलैण्ड में तीन मास व्यतीत किये। उन्हें अमेरिका से बार बार शिष्यों तथा भक्तों के वापस लौटने के बारे में अनुरोध भरे पत्र मिल रहे थे। इधर लन्दन वाले उन्हें नहीं छोड़ रहे थे। अमेरिका जाने की आवश्यकता अनुभव कर उन्होंने इंगलैण्ड की शिष्य-मण्डली को एक समिति का रूप देकर प्रचार कार्य जारी रखने का आदेश दिया और वे अमेरिका लौट गए। ६ दिसम्बर को वे न्यूयार्क पहुँचे। उनकी अनुपस्थिति में उनके स्थानीय शिष्यों द्वारा बड़े उत्साह से प्रचार कार्य चलाया जा रहा था। अब बोस्टन की एक उदार महिला की सहायता से २९ नं० स्ट्रीट में दो बड़े बड़े कमरे किराये पर लिए गए। इस स्थान पर उन्होंने कर्मयोग के सम्बन्ध में धारावाहिक रूप से व्याख्यान दिये जिनका संग्रह 'कर्मयोग' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ।

बड़े दिनों के पर्व पर मिसेज ओली बुल द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामी जी बोस्टन गए। केम्ब्रिज की महिलाओं के निमंत्रण पर स्वामी जी ने 'भारतीय नारी का आदर्श' के सम्बन्ध में एक सुन्दर तथ्यपूर्ण भाषण दिया। उसे सुन कर वहां का विदुषी नारी समाज ऐसा मुग्ध हुआ कि उसने धन्यवाद का एक पत्र स्वामी जी की माता को लिखा।

फरवरी मास में उन्होंने 'मैविसन स्क्वेग्रर गार्डन' नामक हाल में 'भक्तियोग' पर भाषण देना प्रारम्भ किया। वे भाषण इतने सुन्दर व आकर्षक होते थे कि प्रतिदिन लगभग दो हज़ार श्रोता लगातार दो घण्टे तक खड़े खड़े उन्हें सुना करते थे। इसी मास में 'हार्टफोर्ड मैटेफिजिकल सोसायटी' में आमन्त्रित होकर 'आत्मा और ईश्वर' के विषय पर उन्होंने एक भाषण दिया।

स्वामी विवेकानन्द की धर्मव्याख्या से आकृष्ट होकर अनेक स्त्री-पुरुष उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे। डा० स्ट्रीट नामक एक जिज्ञासु को संन्यास देकर उन्होंने स्वामी योगानन्द बना दिया। धीरे धीरे सैकड़ों स्त्री-पुरुष स्वामी जी के शिष्य बन कर अपने को वेदान्ती कहने लगे।

न्यूयार्क में स्वामी जी ने वेदान्त की चर्चा व योग की शिक्षा के लिए एक स्थायी केन्द्र बनाने का निश्चय किया। इधर इंगलैण्ड से बार बार आमन्त्रण आ रहे थे। यह निश्चित हुआ था कि वे इंगलैण्ड से भारत लौटेंगे। तदनुसार शिष्य और भक्तों के साथ परामर्श करके स्वामी जी ने स्थायी रूप से न्यूयार्क में एक वेदान्त सोसाइटी की स्थापना की। प्रसिद्ध धनी मि. फ्रान्सिस एच. लिगेट महोदय उस सोसाइटी के सभापति बनाए गए। भगिनी हरिदासी (मिस एस. ई. वाल्डो) योग की शिक्षिका नियुक्त हुईं। स्वामी कृपानन्द (मि. लान लेम्बसवर्ग), स्वामी अभयानन्द (मैडम मेरी लुई) तथा स्वामी योगानन्द (डा० स्ट्रीट) तथा कुछ ब्रह्मचारी वेदान्त के प्रचारक नियुक्त हुए। अन्य अनेक अमरीकी शिष्यों ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। शिष्य वर्ग की इच्छा एवं अनुरोध से स्वामी जी ने अपने गुरुभाई स्वामी

शारदानन्द को इंगलैण्ड की यात्रा करने के लिए पत्र लिखा। इंगलैण्ड से उन्हें न्यूयार्क भेजने का वचन देकर उन्होंने १५ अप्रेल सन् १८९६ ई० को लंदन की ओर प्रस्थान किया।

इंगलैण्ड में स्वामी विवेकानन्द के फिर वापस आ जाने का समाचार सुनते ही सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने आने लगे। मई मास के अन्त में उन्होंने भक्ति, कर्म और योग विषयों पर अनेक उत्कृष्ट भाषण दिए।

२८ मई को स्वामी जी ने आक्सफोर्ड जाकर वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, विश्वविख्यात प्रोफेसर मैक्समूलर से भेंट की। भारतवर्ष के सम्बन्ध में प्रो. मैक्समूलर के असीम ज्ञान का परिचय पाकर वे बड़े प्रसन्न हुए।

स्वामी विवेकानन्द के अंग्रेज़ शिष्य और शिष्याओं में कुमारी मुलर, कुमारी नोबल (निवेदिता), मि. गुडविन, मि. स्टर्डी आदि उनके कार्य को बढ़ाने का निश्चय करके जीवन दान दे चुके थे। दूसरी बार इंगलैण्ड में आकर उन्होंने कैप्टन सेविअर तथा श्रीमती सेविअर को शिष्य रूप में प्राप्त किया।

इन शिष्यों ने स्वामी जी को लेकर स्विट्जरलैण्ड की यात्रा की। जुलाई मास के अन्तिम सप्ताह में वे दल बल सहित जिनेवा पहुँचे। स्विट्जरलैण्ड के हृदयग्राही प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उन्हें अपने परिव्राजक जीवन की स्मृतियां सजीव हो उठीं। यहां उन्होंने दो सप्ताह एक पहाड़ी गांव में निवास किया। उनकी वृत्तियों ने एक बार फिर पूर्ण अन्तर्मुखी होने का अवसर पाया। दो सप्ताह के पूर्ण विश्राम से ऐसा प्रतीत हुआ मानों गत तीन वर्षों की सारी क्लान्ति दूर हो गयी हो।

इसी बीच जर्मनी की कील नगरी के विश्वविद्यालय के विख्यात संस्कृतज्ञ प्रो० पॉल ड्यूसन ने स्वामी जी को आमन्त्रित किया। निमन्त्रण पाकर वे जर्मनी गए। प्रो० ड्यूसन का वेदों, उपनिषदों आदि भारतीय ग्रन्थों का विशद और गम्भीर अध्ययन था। रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में सन् १८८३ ई० में उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में उपसंहार करते हुए कहा था—

"अविकृत वेदान्त-दर्शन पवित्र नैतिकता की सुदृढ़ नींव है और जीवन व मृत्यु के दुःखसमूह के लिए परम सान्त्वना का स्थल है। हे भारतवासी! इसे कभी न छोड़ना।"

स्वामी जी उनके इस ज्ञान और रुचि को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। कुछ ही दिनों के सहवास में वे एक दूसरे के बहुत निकट आ गए और इसी सहवास के लोभ से वे स्वामी जी के साथ लन्दन तक आए।

१३ दिसम्बर सन् १८९६ में इंगलैण्ड के मित्रों एवं शिष्यों ने 'रायल सोसाइटी आफ पेन्टर्स' के पिकाडिली स्थित बृहत् हाल में स्वामी विवेकानन्द की विदाई के उपलक्ष्य में एक भव्य आयोजन किया। वे दिसम्बर के मध्य भाग में भारत की ओर प्रस्थान करेंगे, यह निश्चित हो चुका था।

१६ दिसम्बर को वे अपने शिष्य-शिष्याओं से विदा लेकर सेविअर दम्पति के साथ लन्दन से चल दिए। अब अपनी अद्भुत प्रतिभा से सम्पूर्ण संसार को चमत्कृत कर देने वाले विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्द के कर्ममय जीवन के एक महत्वपूर्ण अंश की पूर्ति हुई। सम्पूर्ण संसार में भारत के ज्ञान और गौरव की दुन्दुभी बजाकर अब वे भारत आने के लिए

बालकों की तरह अधीर हो उठे। लन्दन छोड़ने से ठीक पहिले एक अंग्रेज़ मित्र ने उनसे पूछा—

"स्वामी जी, चार वर्ष तक विलास की लीला भूमि, गौरव की सिरताज, महाशक्तिशाली पाश्चात्य भूमि में भ्रमण करने के बाद आपकी मातृभूमि आपको कैसी लगेगी ?" स्वदेश-प्रेमी विवेकानन्द ने उत्तर दिया—"पाश्चात्य भूमि में आने के पूर्व मैं भारत से प्रेम करता था। इस समय भारत का धूलिकण तक मेरे लिए पवित्र है। भारत की वायु अब मेरी दृष्टि में पवित्रता की प्रतिमूर्त्ति है। भारत इस समय मेरे लिए तीर्थ जैसा है।"

अब भारत ही केन्द्र है

चार वर्ष की सुदीर्घ विदेश यात्रा के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द भारत की ओर लौट रहे थे। वे जहाज में बैठे हिसाब करने लगे, क्या दिया और क्या ले चला। विदेशों में सहस्रों की संख्या में लोगों ने उन्हें सुना, करतल-ध्वनि की, जय घोष किया, समाचार पत्रों ने उनकी प्रशंसा के पुल बांध दिए, पर इन सब का परिणाम क्या हुआ ? उन्होंने सोचा कि वे अपने दीन-दरिद्र भारतीयों के लिए इसके प्रतिदान में क्या पा सके ? और जब इस प्रश्न पर उन्होंने गम्भीरता से विचार किया तो उन्हें लगा कि भोग-लोलुप, स्वार्थी पाश्चात्यों से दीन दरिद्र भारतीयों के लिए जिस सहायता की उन्होंने आशा की थी, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई। वे क्षुब्ध होने पर भी

निराश नहीं हुए। उन्होंने निश्चय किया कि भारत में नये सिरे से कार्य करना होगा। धर्म को जीता जागता और समाज को गतिशील बना कर सत्साहसी व वीर्यवान् मनुष्यों को पैदा करना होगा। उन्होंने स्थिर किया—

"अब भारत ही केन्द्र है।"

१६ जनवरी को सूर्योदय के साथ ही लंका की श्यामल तटभूमि दृष्टिगोचर हुई। स्वामी विवेकानन्द आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे। कोलम्बो में उनके आगमन का समाचार पहुँच चुका था। वहां उनका भव्य स्वागत हुआ। तीसरे पहर फ्लोरल हाल में उनका भाषण हुआ। विषय था—

"पुण्यभूमि भारतवर्ष।"

कोलम्बो से काण्डी और काण्डी से जाफना में सर्वत्र अपना सत्कार स्वीकार करते हुए वे जाफना से एक स्टीमर द्वारा भारतवर्ष की ओर चले। तट पर रामनद के राजा भास्कर वर्मा विशाल जनसमूह के साथ उनके स्वागतार्थ खड़े थे। भारत भूमि पर शुभ पदार्पण करते ही रामनद नरेश ने साष्टांग प्रणाम कर उनकी चरण रज ली। नगरवासियों की ओर से अभिनन्दन का आयोजन हुआ। भारत भूमि के जिस स्थान पर स्वामी विवेकानन्द ने पहले पहल चरण रखे, उस पुण्यभूमि पर भक्तिमान रामनद नरेश ने चालीस फुट ऊँचा एक स्मृति-स्तम्भ बनवा दिया।

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द जिस ओर भी गए, एक विश्वविजयी नायक की भांति उनका स्वागत हुआ। मद्रास के विक्टोरिया हाल में पांच सहस्र श्रोताओं के सम्मुख उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध भाषण 'मेरी समर नीति' दिया। इसके बाद क्रम से उन्होंने 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग',

'भारतीय महापुरुष', 'हमारा वर्तमान कर्त्तव्य', 'भारत का भविष्य' शीर्षक चार भाषण दिए।

१५ फरवरी, सोमवार को स्वामी विवेकानन्द मद्रास से कलकत्ता जाने वाले जहाज पर चढ़े। यद्यपि लोकमान्य तिलक ने उन्हें पूना आने का बहुत अनुरोध किया था, किन्तु इच्छा होते हुए भी उन्हें वह यात्रा स्थगित करनी पड़ी। जहाज से खिदिरपुर में उतरने के पश्चात् उन्हें स्पेशल ट्रेन द्वारा स्यालदा ले जाया गया। स्टेशन पर उनका सहस्रावधि व्यक्तियों द्वारा भव्य स्वागत किया गया।

२८ फरवरी को कलकत्ता निवासियों की ओर से उनके अभिनन्दनार्थ एक विराट सभा हुई और उन्हें अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया।

निरन्तर सम्मान और भाषण से ऊब कर अब वे कुछ समय शान्ति से व्यतीत करना चाहते थे। अनेक वर्षों के कठोर परिश्रम से उनका वज्र जैसा दृढ़ शरीर भी अस्वस्थ हो गया था। परन्तु इसकी चिन्ता न करते हुए मठ के ब्रह्मचारियों एवं नवदीक्षित शिष्यों को वे गीता, उपनिषद् आदि भाष्य के साथ स्वयं पढ़ाते थे। डाक्टर उनसे मानसिक परिश्रम से अवकाश ग्रहण करने का आग्रह कर रहे थे। अन्त में वे उनका आग्रह स्वीकार कर अपने कुछ स्वदेशी-विदेशी श्रद्धालुओं सहित दार्जिलिंग गए और वहां लगभग दो मास रहे किन्तु स्वास्थ्य में कुछ विशेष सुधार नहीं हुआ और वे पुनः कलकत्ता लौट आए।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

कलकत्ते में कुछ समय व्यतीत कर स्वामी विवेकानन्द ने

अपने प्रचार कार्य को संघबद्ध करने की तीव्र आवश्यकता अनुभव की। स्वदेश और विदेशों में स्थान स्थान पर कार्य का बीजारोपण उन्होंने कर ही दिया था। कार्य की विधिवत प्रगति के लिए इकाइयों का एक सूत्र में आबद्ध होना आवश्यक सा था। १ मई सन् १८९७ को उनके आह्वान पर परमहंस रामकृष्ण देव के गृहस्थ एवं संन्यासी भक्तगण बलराम बाबू के निवास स्थान पर एकत्र हुए। स्वामी विवेकानन्द ने सभी को संघबद्ध कर्म की आवश्यकता समझाई। सभी ने उसका उन्मुक्त हृदय से समर्थन किया। संघ का नाम रखा गया रामकृष्ण मिशन। मिशन के उद्देश्यों की संक्षिप्त घोषणा इस प्रकार की गयी—

उद्देश्य—मानव समाज के हित के लिए श्री रामकृष्ण देव ने जिन सब तत्त्वों की व्याख्या की है तथा कार्य रूप में उनके जीवन में जो तत्त्व प्रतिपादित हुए हैं उनका प्रचार तथा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा पारमार्थिक उन्नति के लिए जिस-जिस प्रकार उन सब तत्त्वों का प्रयोग हो सके, उन-उन विषयों में सहायता करना इस मिशन का उद्देश्य है।

व्रत—जगत् के सभी धर्म मतों को एक अखण्ड सनातन-धर्म का रूपान्तर मात्र समझते हुए सभी धर्मावलम्बियों के बीच आत्मीयता की स्थापना के लिए श्री रामकृष्ण देव ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था, उसका परिचालन ही इस मिशन का व्रत है।

कार्य प्रणाली—मनुष्य की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान देने योग्य व्यक्तियों को शिक्षा देना, शिल्प व श्रमोपजीविका को प्रोत्साहित करना तथा जिस रूप

में वेदान्त व दूसरे धर्मों के भाव श्री रामकृष्ण देव के जीवन में व्याख्यात हुए थे, उसे समाज में प्रवर्तित करना।

भारतवर्षीय कार्य—भारतवर्ष के नगरों में इस व्रत को ग्रहण करने के अभिलाषी गृहस्थ अथवा संन्यासियों की शिक्षा के लिए आश्रमों को स्थापना तथा ऐसे उपायों का अवलम्बन जिनके द्वारा वे देश-देशान्तरों में जाकर जनता को शिक्षित बना सकें।

विदेशी कार्यविभाग—भारत के बाहर, दूसरे देशों में, व्रतधारियों को भेजना तथा उन स्थानों में स्थापित सभी आश्रमों के साथ भारतीय आश्रमों की घनिष्ठता व सहानुभूति को बढ़ाना और नये-नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामी विवेकानन्द उक्त समिति के साधारण सभापति बने, स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के सभापति तथा स्वामी योगानन्द उप-सभापति बने। बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र इसके मंत्री बनाए गए।

इसी बीच इंगलैण्ड से स्वामी विवेकानन्द की अनन्य शिष्या कुमारी मूलर भारत आ गयीं। स्वामी जी का स्वास्थ्य काफी खराब हो रहा था, इसलिए डाक्टरों का आग्रह स्वीकार कर उन्होंने कुछ समय के लिए अलमोड़ा जाना स्वीकार कर लिया। ६ मई को उन्होंने शिष्यों एवं गुरुभाइयों के साथ अलमोड़ा की ओर प्रस्थान किया। अलमोड़ा के स्वल्प निवास में ही उनके स्वास्थ्य में सुधार दिखायी देने लगा।

ढाई मास अलमोड़ा में रह कर पंजाब एवं कश्मीर के विभिन्न स्थानों से आमन्त्रण आने के कारण स्वामी जी अलमोड़ा से चल दिये। बरेली, अम्बाला, अमृतसर,

रावलपिण्डी, मरी और बारामूला होकर ८ सितम्बर को नौका द्वारा उन्होंने श्रीनगर की यात्रा की। लगभग एक मास की इस सुरम्य पहाड़ी प्रदेश की यात्रा द्वारा उनके स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ।

इसके पश्चात् रावलपिण्डी, जम्मू और स्यालकोट में जिज्ञासु जनता का समाधान करते हुए वे ५ नवम्बर को लाहौर आए।

स्वामी विवेकानन्द का लाहौर आगमन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहीं उनकी भेंट गणित के विद्वान् प्राध्यापक तीर्थराम गोस्वामी से हुई। प्रो० तीर्थराम ने जीवन के अतीव कष्टमय दिन व्यतीत कर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। आध्यात्मिक रुचिसम्पन्न, भावुकहृदय तीर्थराम में एक महान् संन्यासी एवं वेदान्त-प्रचारक होने के बीज पूर्णरूप से विद्यमान थे। विवेकानन्द से भेंट ने मानों उन बीजों को प्रस्फुटन प्रदान किया। मार्ग मिलते ही चिरसंचित आध्यात्मिक धारा प्रचण्ड वेगवती हो बह निकली, प्रो० तीर्थराम उसमें डूब गये और महान् संन्यासी स्वामी रामतीर्थ का जन्म हुआ।

लाहौर में स्वामी विवेकानन्द का परिचय उसी युग में उत्पन्न आर्य समाज नामक प्रभावशाली आन्दोलन से हुआ। आर्य समाज के अनेक प्रमुख नेताओं से यहां उन्होंने विचार-विमर्श किया।

लाहौर में स्वामी विवेकानन्द ने क्रमशः 'हिन्दू धर्म की साधारण नींव', 'भक्ति' तथा 'वेदान्त' विषयों पर तीन भाषण दिए। पंजाब की पवित्र भूमि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने अपने प्रथम भाषण में कहा—

"यह वही भूमि है जिसने अपनी सभी आपत्तियों को

झेलते हुए अभी तक अपना गौरव और तेजस्विता की कीर्ति को पूर्णतया नष्ट नहीं होने दिया है। यही भूमि है जहां दयालु नानक ने अवतीर्ण होकर अद्भुत विश्व प्रेम का उपदेश दिया और यह वही भूमि है जहां उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर—केवल हिन्दुओं को ही नहीं, वरन् मुसलमानों को भी, यहां तक कि समस्त संसार को गले लगाने के लिए हाथ फैलाए। यहीं पर हमारी जाति के महान् तेजस्वी गुरु गोविन्दसिंह ने अपना और अपने कुटुम्बियों तक का खून धर्म की रक्षा के लिए बहा दिया।"

लाहौर से देहरादून, दिल्ली, अलवर, जयपुर होते हुए वे खेतरी राज्य में आए। जैसा कि इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, खेतरी के राजा स्वामी विवेकानन्द के उन शिष्यों में से थे, जिन्होंने उनके लिए पूर्ण आत्मसमर्पण किया था और पूरी शक्ति से उनके बताए मार्ग पर चलने का प्रयास किया।

सन् १८९८ ई० के जनवरी मास के मध्य में स्वामी विवेकानन्द अपने गौरवमय उत्तर भारत-भ्रमण को समाप्त कर कलकत्ते लौट आए। भागीरथी के तट पर एक स्थायी मठ निर्माण करने की उनकी बहुत समय से इच्छा थी। अब उन्होंने इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ किया। अंत में भागीरथी के पश्चिमी तट पर बेलुड़ गांव में योग्य स्थान की खोज हुई। कुमारी मूलर द्वारा प्रदत्त धनराशि से वह भूमि खरीद ली गई। एक वर्ष में वहां मठ तैयार हो गया। मठ-निर्माण का सम्पूर्ण व्यय भार विवेकानन्द के लंदन के शिष्यों ने उठाया था। ठाकुर घर के निर्माण का सम्पूर्ण व्यय उनकी अन्यतम अमरीकी शिष्या, श्रीमती ओली वुल ने दिया और मठ का

खर्च चलाने के लिए भी संचालकों को एक लाख से अधिक रुपये दिए। इस प्रकार उनका एक महान् संकल्प पूर्ण हुआ।

इसी समय इंगलैण्ड से कुमारी मार्गारेट नोबल तथा अमेरिका से श्रीमती ओली बुल और कुमारी मैकलीओड् भारत आयीं। विवेकानन्द ने उन्हें भारतीय आचार-व्यवहार, इतिहास, दर्शन आदि से परिचित कराने का कार्य नियमित रूप से चालू रखा। कुमारी नोबल ने पूर्ण रूप से संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा चाही। विवेकानन्द ने उनकी सर्व प्रकार से परीक्षा ले उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित किया। कुमारी मार्गारेट नोबल की इति हो गई और विवेकानन्द की मानस-कन्या के रूप में 'भगिनी निवेदिता' का जन्म हुआ।

स्वास्थ्य-सुधार के लिए वे कुछ समय के लिए दार्जिलिंग गये, किन्तु इन्हीं दिनों कलकत्ते में प्लेग व्यापक रूप से फैल गया। विवेकानन्द कलकत्ता वापस आ गये और अपने सभी सहयोगियों सहित 'यत्र जीवः तत्र शिवः' का उद्घोष करते हुए जाति, वर्ण का विचार छोड़ कर जनता-जनार्दन की सेवा में लग गये।

प्लेग का प्रकोप घट जाने पर विवेकानन्द ने अपने स्वदेशी-विदेशी शिष्यों सहित श्री सेविअर के निमन्त्रण पर अलमोड़ा की यात्रा की। सेविअर दम्पति अलमोड़ा में ही एक स्थायी मठ बनाने का प्रयास कर रहे थे।

अलमोड़ा आते ही उन्हें निर्जनता बड़ी प्रिय हो गयी। प्रायः प्रतिदिन वे दस-ग्यारह घण्टे घोर अरण्य में अकेले ध्यान-धारणा में बिताया करते थे। मद्रास से प्रकाशित 'प्रबुद्ध

भारत' के सम्पादक का देहावसान हो जाने के कारण उन्होंने उसके प्रकाशन की व्यवस्था अलमोड़ा से की। स्वामी स्वरूपानन्द उसके सम्पादक तथा श्री सेविअर उसके परिचालक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् वे अपनी विदेशी शिष्याओं के साथ कश्मीर-भ्रमण के लिए निकल पड़े। इस यात्रा में उन्होंने प्रख्यात अमरनाथ के भी दर्शन किये।

यात्रा के पश्चात् जब वे कलकत्ते लौटे तब उनका स्वास्थ्य फिर बहुत बिगड़ चुका था। मुख-मण्डल पीला पड़ गया था और उनकी बायीं आँख में रक्त जम गया था किन्तु वे अपनी ओर से पूर्ण उदासीन थे। वे सदैव मन के किसी उच्च भावनामय राज्य में खोए से रहते थे।

एक दिन एक शिष्य ने उनसे पूछा—"स्वामी जी, आप अपने असाधारण भाषण-बल से यूरोप-अमेरिका को मथित कर अपनी जन्मभूमि में चुपचाप बैठे हैं, इसका क्या कारण है?"

उत्तर में उन्होंने कहा—"इस देश में पहले भूमि तैयार करनी होगी। पाश्चात्य देशों का वातावरण अपेक्षाकृत अनुकूल है। अन्नाभाव से दुर्बल देह, दुर्बल मन तथा रोग-शोक व दुःखदैन्य की जन्मभूमि भारत में भाषण देकर क्या होगा। पहले कुछ ऐसे त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है, जो अपने परिवार की चिन्ता न करते हुए दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार हों। मैं मठ स्थापित कर कुछ बाल संन्यासियों को इसी प्रकार तैयार कर रहा हूँ।"

एक बार और विदेशों की ओर

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार और विदेश यात्रा की

आवश्यकता का अनुभव किया। वे अपने द्वारा प्रस्थापित कार्य का निरीक्षण करना चाहते थे। इस यात्रा में उनके साथ उनके गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द तथा भगिनी निवेदिता भी थीं।

इस दीर्घ समुद्र यात्रा में विवेकानन्द के साथ व्यतीत किये हुए समय को भगिनी निवेदिता ने अपनी ''माई मास्टर, एज़ आई साॅ हिम'' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध किया है।

३१ जुलाई सन् १८९९ को वे लंदन पहुँचे। इस बार उन्होंने दर्शनार्थी जिज्ञासुओं के साथ धर्मालोचना करने के अतिरिक्त किसी सर्वसाधारण स्थान में कोई भाषण नहीं दिया।

१६ अगस्त को वे न्यूयार्क की ओर चले। न्यूयार्क पहुँचने पर श्री एवं श्रीमती लिगेट ने उन्हें बड़े आदरपूर्वक अपना अतिथि बनाया। विवेकानन्द की अनुपस्थिति में स्वामी अभेदानन्द के निर्देशन में वेदान्त प्रचार अमेरिका में जारी रहा था। १५ अक्तूबर को वेदान्त समिति के नवीन भवन का उद्घाटन हुआ तथा प्रश्नोत्तर कक्षा का कार्य चलने लगा।

कुछ समय पश्चात् वे केलीफोर्निया की ओर गये। यह प्रदेश उनके स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा उपयोगी था। यहां उन्होंने स्थान-स्थान पर अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण दिए जिनमें से प्रमुख—'संदेशवाहक ईसा' पसादेना में, 'मन की शक्तियाँ' लीस एंजलेस में, 'सार्वभौम धर्म का आदर्श', 'गीता', 'बुद्ध', 'ईसा और कृष्ण का संदेश' सान फ्रान्सिसको में दिये गये। सान फ्रान्सिसको में विधिवत वेदान्त-समिति की स्थापना की गई। स्वामी तुरीयानन्द को वहां का कार्य-भार सम्भालने का आदेश दिया गया।

वहाँ से विवेकानन्द न्यूयार्क वापस आ गये । भगिनी निवेदिता ने 'हिन्दू नारी का जीवनादर्श' विषय पर न्यूयार्क की उच्चवंशीय तथा शिक्षित स्त्रियों के बीच कई भाषण दिये। अमेरिकन महिलाएँ इन भाषणों से इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने भारत और उसकी संस्कृति सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाओं की तृप्ति के लिए भगिनी निवेदिता से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे।

इस बीच स्वामी विवेकानन्द के पास पेरिस में आयोजित प्रदर्शिनी की धर्मेतिहासिक सभा के लिए स्वागत समिति की ओर से भाषण देने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ । उसमें भाग लेने के लिए २० जुलाई सन् १९०० को उन्होंने पेरिस की यात्रा की । पेरिस की इस सभा में उन्होंने वेदों पर, उन्हें हिन्दू और बौद्ध धर्म का सामान्य आधार सिद्ध करते हुए, भाषण दिए । इस प्रदर्शिनी में उनका परिचय संसार के अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों से हुआ और सभी उनसे बहुत प्रभावित हुए ।

पैरिस से विएना, कान्स्टैन्टिनोपल, एथेन्स और काहिरा आदि नगरों की यात्रा के पश्चात् उनका मन एकाएक भारत लौटने के लिए व्याकुल हो उठा । उक्त नगरों के ऐश्वर्य, विलास और सौन्दर्य को देखकर मानों उनका मन विरक्त हो उठा था । पार्थिव ऐश्वर्य से गर्वित पाश्चात्य राष्ट्रों का उद्धत अहंकार उनके चित्त को सदैव पीड़ित करता रहता था । इस बीच उन्हें एक दुःखद समाचार मिला कि मायावती (अलमोड़ा) मठ के संस्थापक श्री सेविअर स्वर्ग सिधार गये हैं । इस मर्मान्तक समाचार को पाते ही वे भारत लौट पड़े । साथ के सभी योरोपीय शिष्यों को उन्होंने विदा दे दी और वे अकेले ही भारत आ गये ।

भारत में बेलूड़ मठ की व्यवस्था देखकर विवेकानन्द मायावती की व्यवस्था देखने तथा श्रीमती सेविग्रर को सान्त्वना देने के लिए गये। दिसम्बर के भयंकर शीत में इस मठ तक पहुँचने में उन्हें बहुत कष्ट हुग्रा। एक बार वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने श्रीमती सेविग्रर से कहा—वास्तव में मेरा स्वास्थ्य ग्रब टूट गया है, परन्तु मेरा मस्तिष्क ग्रभी भी पहले जैसा सबल ग्रौर कार्यक्षम है।

हिमालय स्थित इस मठ का उद्वेगहीन जीवन उन्हें बहुत ही शान्तिपूर्ण लगा। एक दिन शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए वे बोले—"ग्रन्य सब प्रकार के कर्मों को छोड़कर मैं ग्रपने जीवन के शेष दिन इसी मठ में व्यतीत करूँगा, निश्चित तथा स्थिर होकर ग्रध्ययन करूँगा ग्रौर पुस्तक ग्रादि लिखूंगा। बालक की तरह ग्रानन्द से इधर उधर घूमता फिरूँगा।" किन्तु विधि ने तो उनके लिए कुछ दूसरा ही विधान निश्चित कर रखा था। ग्रलमोड़ा में प्रबल तुषारापात से उत्पन्न शीत उनके लिए ग्रसहनीय हो रही थी। सन् १९०१ की जनवरी में वे बेलूड़ मठ लौट ग्राए।

मार्च में उन्होंने पूर्वी बंगाल ग्रौर ग्रासाम की यात्रा की। ढाका, गोहाटी ग्रौर शिलांग की यात्रा करके वे बेलूड़ वापस ग्रा गये। इस यात्रा में उनका स्वास्थ्य सवत्र ही खराब रहा था। शिलांग में उन्हें दमे का रोग बड़े भयंकर रूप से उमड़ ग्राया था। बहुमूत्र के रोग से वे पहले से ही कष्ट पा रहे थे। बेलूड़ में उनकी ग्रायुर्वेदीय चिकित्सा होने लगी जिससे उन्हें ग्रांशिक लाभ हुग्रा।

सन् १९०१ के दिसम्बर मास के ग्रन्त में कलकत्ते में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का ग्रधिवेशन हुग्रा। कांग्रेस के ग्रनेक प्रमुख प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द से भेंट करने के लिए

बेलूड़ आने लगे। देश की वर्तमान दुर्दशा तथा अभाव और उनके प्रतिकार के उपाय के सम्बन्ध में उनके विचारों से वे सभी बहुत प्रभावित हुए। उनकी महासमाधि के पश्चात् लखनऊ की 'एडवोकेट' पत्रिका के सम्पादक ने लिखा था—"गत कांग्रेस के अवसर पर मैंने उन्हें अन्तिम बार कलकत्ते में देखा था। विशुद्ध एवं उच्च श्रेणी की हिन्दी में उन्होंने बड़ी आसानी से वार्तालाप किया। जिस समय वे भारत के पुनरुत्थान के बारे में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे, उनका मुख-मण्डल उत्साह से उद्दीप्त हो उठा था।"

इन्हीं दिनों जापान से दो विख्यात विद्वान बेलूड़ पधारे। इनमें एक जापान के एक बौद्ध मठ के नायक रे ओड़ा और दूसरे डा० ओकाकुरा थे। इनके साथ स्वामी विवेकानन्द बुद्ध गया गये। यह भी निश्चय हुआ कि वे वहां से काशी जाकर कुछ दिन विश्राम करेंगे। उनके परिव्राजक जीवन का यही अन्तिम भ्रमण था।

श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव निकट आ जाने से वे काशी से बेलूड़ लौट आए। काशी की जलवायु से वे कुछ स्वस्थ हुए थे परन्तु मठ में आकर रोग इतना बढ़ गया कि वे शय्याग्रहण के लिए बाध्य हो गये। रोग की भयंकरता और शिष्यों की व्याकुलता बढ़ती ही जा रही थी। विवेकानन्द ने उन्हें समझाते हुए कहा—"क्या सोच रहे हो? शरीर पैदा हुआ है, नष्ट भी होगा। यदि मैं तुम लोगों में अपने भावों को कुछ भी प्रविष्ट कराने में समर्थ हो सका तभी जानूँगा कि मेरा शरीर-धारण सार्थक हुआ है।"

देहत्याग से एक सप्ताह पूर्व उन्होंने स्वामी शुद्धानन्द को एक पंचांग लाने का निर्देश दिया। पंचांग आ जाने पर उन्होंने स्वयं उसे देख-भालकर अपने कमरे में रख दिया। बीच

बीच में वे गम्भीर ध्यान के साथ उसे देखते थे, मानों किसी विशेष कार्य के लिए कोई दिन चुनना चाहते हैं।

महानिर्वाण

शुक्रवार, ४ जुलाई सन् १९०२ ई०। आज वे गत अनेक वर्षों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ एवं प्रसन्न लग रहे थे। कुछ आगन्तुकों से उत्साहपूर्वक वार्तालाप करके वे मठ के ठाकुर-द्वार में प्रविष्ट हुए। उन्होंने उसके सभी दरवाजे और खिड़कियां बन्द कर लीं, ऐसा वे कभी नहीं करते थे। वहां वे तीन घण्टे तक ध्यानमग्न रहे, फिर काली की स्तुति में एक भजन गाकर बाहर निकले। भाव-निमग्न विवेकानन्द मठ के प्रांगण में 'मन चल निज निकेतन' गीत गाते हुए धीरे-धीरे टहलने लगे। जिस दिन किशोर नरेन्द्रनाथ की, परमहंस रामकृष्ण देव से पहिली भेंट हुई थी, दक्षिणेश्वर के मन्दिर में उन्होंने यही गीत गाकर सुनाया था। यह कदाचित् परमहंस से चिरमिलन की तैयारी थी।

उस दिन उन्होंने अपने शिष्यों के साथ बड़ी रुचि एवं आनन्द से भोजन किया। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि दूसरे दिनों की अपेक्षा आज उनका शरीर अधिक स्वस्थ लग रहा है।

भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम के बाद वे ब्रह्मचारियों को संस्कृत पढ़ाने बैठ गये और तीन घण्टे तक निरन्तर पढ़ाते रहे। तीसरे पहर वे स्वामी प्रेमानन्द के साथ मठ के बाहर घूमने गए। सन्ध्या आयी। अपने प्रिय गुरुभाइयों एवं शिष्यों से यह उनका अन्तिम स्नेहयुक्त वार्तालाप था। राष्ट्रों

के उत्थान और पतन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"भारत अमर है, यदि वह ईश्वर की खोज में रत रहेगा, परन्तु यदि वह राजनीतिक-सामाजिक संघर्षों की ओर उन्मुख हुआ, तो उसका विनाश हो जाएगा।"

सात बजे आरती का समय हुआ। ब्रह्मचारी ठाकुरद्वार की ओर चल दिए और विवेकानन्द अपने कमरे में आ गए। एक ब्रह्मचारी को जो सदैव उनके साथ रहता था, उन्होंने कमरे से बाहर बैठने का आदेश दिया और स्वयं जयमाला हाथ में लिए पद्मासन में बैठ गए। एक घण्टे बाद आसन से उठकर वे बिस्तर पर लेट गए। ब्रह्मचारी आदेश पा पंखा करने लगा।

रात्रि के लगभग ९ बजे का समय था। इसी समय उनका हाथ कांप उठा और साथ ही वे निद्रित शिशु की तरह अस्पष्ट स्वर से थोड़ा क्रन्दन कर उठे। एक दीर्घ निश्वास··· फिर कुछ क्षणों के लिए शान्ति, उनकी आँखें उनकी पलकों के मध्य टिकी हुई थीं। दूसरा दीर्घ निश्वास···और अनन्त शान्ति फैल गयी। उनका मस्तक सिरहाने से हिल गया। जगद्नियन्ता ने बाहें फैला कर अपने बिछुड़े पुत्र को अपने में समेट लिया।

उनकी आयु उस समय ३९ वर्ष की थी। उन्होंने कहा भी था—"चालीस वर्ष की आयु का होकर मैं जीवित नहीं रहूँगा।"

संदेश

किसी महापुरुष का जीवन उसकी असामान्यता के कारण, जिसमें उसके त्याग, पौरुष, तन्मयता और ज्ञान आदि गुणों का समावेश रहता है, समाज के लिए आदर्श बन जाता है।

लोग उसके जीवन की अनेक घटनाएं सुनते और पढ़ते हैं और उनसे अपने जीवन-संग्राम में विश्वास और शक्ति लेकर आगे बढ़ते हैं। महापुरुषों के जीवन से भी महत्त्वपूर्ण उनका जीवन-संदेश होता है। समाज और व्यक्ति के स्थायी पथ-प्रदर्शन में वे संदेश दीप स्तम्भ बनकर जगमगाते हैं। अज्ञान, अंधविश्वास और असहिष्णुता की अंधकारपूर्ण जीवन-यात्रा में ये दीप ही मार्ग का निर्देश करते हैं।

आधुनिक युग के भारतीय महापुरुषों में व्यक्तित्व और संदेश का जैसा सुन्दर समन्वय स्वामी विवेकानन्द के जीवन में दृष्टिगत होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नये और पुराने प्रचारकों की साम्प्रदायिक कट्टरता और धर्मान्धता के मध्य अपने मत को जिस प्रगतिशील, उदार, सहिष्णु और सार्व-भौम आधार पर पूर्ण आग्रह के साथ उन्होंने रखा, वह सचमुच अद्‌भुत है।

सर्वप्रथम हम उनकी धर्मसम्बन्धी धारणा को लें। धर्म को उन्होंने भारत की आत्मा माना था। धर्म की पुनःस्थापना पर उन्होंने अपना पूर्ण आग्रह व्यक्त किया। परन्तु कौन सा धर्म ? क्या वही जिसने मानव समाज को अनेक संकीर्ण टुकड़ों में बांटकर सदैव के लिए उनमें कलह का बीज बो दिया है ? क्या वही जिसके नाम पर संसार में बड़े-बड़े नरमेध हुए हैं ? क्या वही जिसकी दुहाई देकर मनुष्य समाज के एक बहुत बड़े अंग को अछूत करार दे दिया गया, जिनकी छाया मात्र से धार्मिकों के शरीर अपवित्र होने लगे और किसी भी वस्तु में उनका स्पर्श विष के स्पर्श से भी अधिक त्याज्य समझा गया ?

नहीं, यह नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का वह

स्वरूप प्रस्तुत किया जो भारतवासियों के लिए नया तो नहीं पर कुछ समय से भूला हुआ अवश्य था और शेष संसार के लिए सर्वथा नवीन था। उन्होंने कहा, 'धर्म का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभूति' और इस अनुभूति का सबसे बड़ा शत्रु है असहिष्णुता। इसी असहिष्णुता के वशीभूत होकर एक धर्म के अनुयायी कहते हैं कि हमारा मत ही सत्य है, शेष सभी मिथ्या है। इस घोषणा का परिणाम होता है—विघटन, कलह और नर-संहार। अपने अमेरिका के प्रथम दिन के भाषण में उन्होंने घोषित किया—"जैसे नदियां भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, इसी प्रकार हे, प्रभो! भिन्न भिन्न विश्वास के लोग, चाहे वे टेढ़े अथवा सीधे रास्ते वाले हों, अन्त में तेरी ही ओर आते हैं।"

इसीलिए उन्होंने धर्म को मिलन का साधन बताया, न कि विघटन का। स्वामी विवेकानन्द को हम इस दृष्टि से विश्व संगठन का महान् प्रचारक कह सकते हैं। उनकी वाणी में किसी को मिथ्या सिद्ध करने का दुराग्रह नहीं है। वे सत्य के प्रकाश में विभेद को नहीं, वरन् ऐक्य को खोजते हैं। अपने लाहौर के भाषण में उन्होंने पंचनद वासी जनता को संबोधित करते हुए कहा—

"मैं यहां यह देखने नहीं आया कि हमारे और आपके बीच क्या क्या मतभेद हैं, वरन् मैं यह खोजने आया हूँ कि आपकी और हमारी मिलन भूमि कौनसी है। मैं यहाँ आया हूँ यह जानने के लिए कि वह कौनसा आधार है जिसके ऊपर हम आप सदा के लिए भाई का नाता बनाये रख सकते हैं। मैं यहाँ आया हूँ आपके सामने कोई विनाशक कार्यक्रम नहीं, वरन् कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने के लिए।"

इसी भाषण में उन्होंने कहा—"बस करो, बस करो, निंदा

पर्याप्त हो चुकी, दोष-दर्शन बहुत हो चुका, अब समय पुनः-निर्माण का है। यह समय फिर से संगठन करने का है। अब समय है अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सबको एक ही केन्द्र में केन्द्रित करने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को सदियों से रुकी हुई उन्नति के मार्ग में अग्रसर करने का।''

इस संगठन मूलक कार्य प्रणाली का ही प्रभाव था कि एक ओर उनका संदेश हिन्दू धर्म के अनेक मतमतान्तर और पंथों को निकट लाने में समर्थ हुआ, दूसरी ओर विश्व को एक सर्वव्यापी मानव धर्म की कल्पना दे सका।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवेदान्त उनकी सर्व मिलन भूमि का आधार था। बंगलौर की उस सभा में, जहाँ वेदान्त के भिन्न मतवादों के विद्वान् समर्थक अपने अपने मत की पुष्टि करते हुए दूसरे को भ्रान्त प्रमाणित करने के लिए तर्क-वितर्क की आंधी उठाए हुए थे, विवेकानन्द ने यह घोषित किया कि—सर्व-सन्देह-विनाशक वेदान्त के विभिन्न मतवाद परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के समर्थक हैं। वेदान्त शास्त्र कुछ दार्शनिक मतवादों की समष्टि नहीं, वरन् साधक जीवन की विभिन्न स्थितियों में अनुभूत सत्यों का समूह है। इसी मत की पुष्टि उन्होंने इंगलैण्ड में भी की। 'वेस्ट मिनिस्टर गजट' के प्रतिनिधि को दी हुई एक भेंट में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—

"मेरा विश्वास है कि वेदान्त के उदार ज्ञान को सभी धर्म सम्प्रदाय अपनी अपनी धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए भी ग्रहण कर सकते हैं।''

विवेकानन्द का धार्मिक दृष्टिकोण बहुत ही प्रगतिशील था। धर्म के नाम पर समाज में आई हुई संस्कार-बद्धता, अंध-

विश्वास और कर्मकाण्ड का उन्होंने डटकर विरोध किया। छुआछूत वादी प्रचलित धर्म पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने खेतरी राज्य में दिए गए एक भाषण में कहा—"हम हिन्दू नहीं हैं और वेदान्तिक भी नहीं—असल में हम हैं, छुआछूत पंथी। रसोई घर हमारा मन्दिर है, पकाने के बर्तन हमारे उपास्य देवता और 'मत छूओ, मत छुओ' हमारा मन्त्र है। समाज के इस अंध कुसंस्कार को शीघ्र दूर करना होगा।" जम्मू में भी इसी प्रकार के विचार प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था—"इन सब कुसंस्कारों से चिपके रहना ही भारत की अवनति का कारण है। आश्चर्य की बात है कि जो वास्तव में पाप और सभी अनर्थों की जड़ है अर्थात् व्यभिचार, मद्यपान, परस्त्री-गमन इत्यादि, उनसे तो आजकल समाजच्युत नहीं होना पड़ता, वरन् केवल खान-पान की मामूली बातों पर ही समाज में इतना विरोध होता है।"

स्वामी विवेकानन्द जीवनपर्यन्त धर्म को केवल कुछ बाह्याचारों एवं छुआछूत और खान-पान में ही बांध रखने वाले पुरोहित वर्ग की भर्त्सना करते रहे। उन्होंने स्पष्ट एवं आग्रहपूर्ण शब्दों में घोषणा की—

"मैं संस्कार में विश्वास नहीं करता, मैं स्वाभाविक उन्नति का विश्वासी हूँ।"

देश के नवयुवकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—"धर्म के नाम से प्रचलित आचार-व्यवहार वास्तव में धर्म है या नहीं, इसकी परीक्षा कर देखने का दायित्व आज के शिक्षित युवकों पर है। हमें अतीत एवं प्रचलित प्रथा की सीमा से बाहर निकल कर वर्तमान उन्नतिशील जगत् की ओर दृष्टिपात करना होगा। यदि हम देखें कि परम्पराप्राप्त आचार नियम समाज के विकास व परिपुष्टि के पथ में विघ्न

उत्पन्न कर रहे हैं, यदि वे हमारी विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े के सदृश हैं, तो हम जितना शीघ्र उनका त्याग कर दें, उतना अच्छा है।"

स्वामी विवेकानन्द के संदेश की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, अथाह स्वदेश भक्ति एवं मानव प्रेम है। वे जहां कहीं भी और जिस किसी भी अवस्था में रहे, अपने देश और देशवासियों को नहीं भूल सके। विदेशों में वेदान्त के संदेश के साथ ही साथ वे भारत के पक्ष का समर्थन दृप्त सिंह की तरह करते थे। उस समय उनका स्वरूप अभिमान शून्य संन्यासी जैसा नहीं, वरन् मध्य युग के किसी गर्वित जात्याभिमानी अहंकारी राजपूत जैसा होता था। इस देश के युवकों को स्वदेश भक्ति का जो संदेश उन्होंने दिया,वह चिर नवीन है। उन्होंने कहा—

"आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग एकमात्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि की आराधना करो। इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में भी कोई हानि नहीं है। दूसरे देवगण सो रहे हैं, इस समय तुम्हारा एकमात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र।"

स्वामी विवेकानन्द की वृत्ति पूर्णतः समाजोन्मुख थी। उन्होंने व्यक्तिगत मोक्ष की आकांक्षा को स्वार्थ समझा। एक बार अपने बाल मित्र गिरीश बाबू से उन्होंने कहा—"देखो जगत् के कष्टों को दूर करने के लिए, यहां तक कि एक व्यक्ति की वेदना को कम करने के लिए मैं सहस्र बार जन्म ग्रहण करने को तैयार हूँ। अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता; मैं प्रत्येक को मुक्त होने में सहायता करना चाहता हूँ।"

जिस समय उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, कुछ लोग संदेह करने लगे कि रामकृष्ण परमहंस का तो आदर्श था

एकान्त भक्ति के साथ अनन्यचित्त होकर साधन-भजन की सहायता से ईश्वर की उपलब्धि की चेष्टा करना। विवेकानन्द रोगी व दीन-दुखियों की सेवा, शिक्षा का विस्तार, धर्म का प्रचार आदि करने का उपदेश दे रहे हैं। ये सब कर्म मन को स्वाभाविक रूप से ही बहिर्मुख कर देते हैं। लोगों के इन तर्कों को सुनकर उन्होंने कहा—"क्या तुम्हारे कहने का उद्देश्य यह है कि लिखना-पढ़ना, जनसाधारण में धर्म का प्रचार, आर्त, रोगी, अनाथ आदि की सेवा या जनता का दुःख दूर करने की चेष्टा से माया में आबद्ध हो जाना पड़ेगा।" यह कहते कहते वे उत्तेजित हो उठे और गरज कर बोले—"तुम जिस भक्ति का उल्लेख कर रहे हो, वह मूर्खों की भावुकता मात्र है, जो मनुष्य को कापुरुष व कर्मविमुख बना डालती है। तुम श्री रामकृष्ण के प्रचार को बात कर रहे हो ? तुम और मैं उनके अनन्त भावों में से कितनों की कल्पना कर सके हैं, जो हम उन्हें जगत् को सिखाने जाएं ? छोड़ो इन बातों को। कौन तुम्हारे श्री रामकृष्ण को चाहता है, कौन तुम्हारी भक्ति, मुक्ति को लेकर माथापच्ची करता है ? शास्त्र क्या कह रहे हैं या नहीं कह रहे हैं, कौन सुनता है ? यदि मैं घोर तमोगुण में डूबे हुए अपने स्वदेशवासियों को कर्मयोग के द्वारा अनुप्राणित कर वास्तविक मनुष्य को तरह अपने पैरों पर खड़ा कर देने में समर्थ हूँ, तो मैं आनन्द के साथ लाख बार नरक जाऊँगा। मैं तुम्हारे रामकृष्ण या अन्य किसी का चेला नहीं हूँ। जो लोग अपनी भक्ति-मुक्ति की कामना को छोड़ कर दरिद्र नारायण की सेवा में जीवन का उत्सर्ग करेंगे, मैं उन्हीं का चेला हूँ, भृत्य हूँ, क्रीतदास हूँ।"
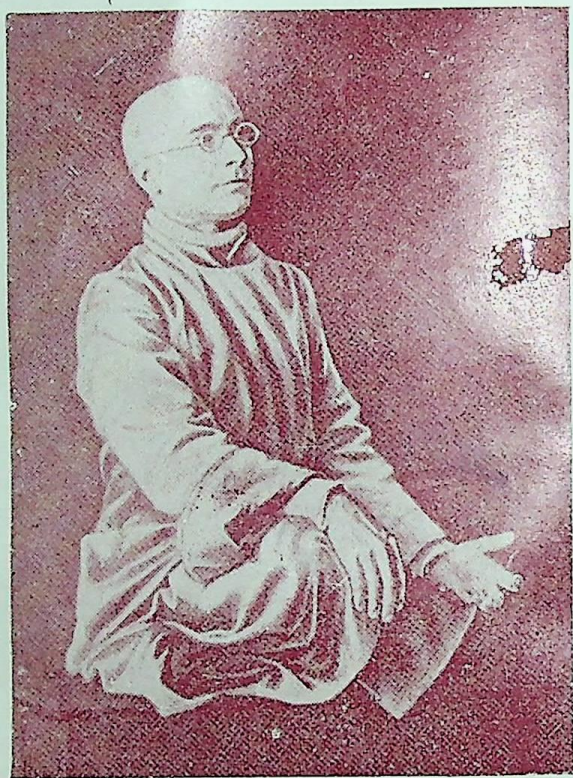
स्वामी रामतीर्थ

कवि सन्त रामतीर्थ

[१८७३—१९०६ ई.]

●

रामकृष्ण
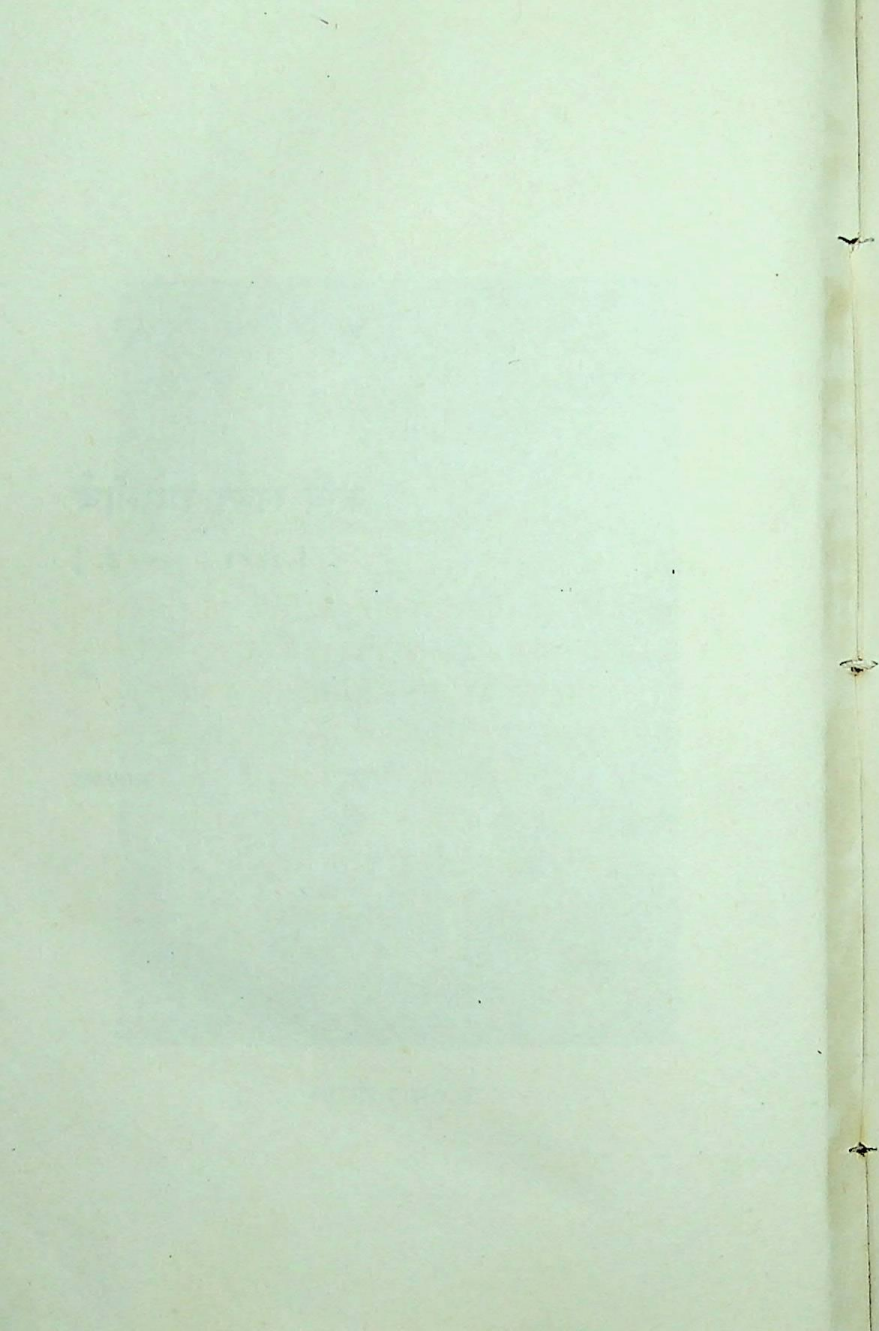
प्रवेश

सन् १९०२ का एक सन्ध्याकाल। हवाई यातायात की सुविधाओं की सृष्टि तब तक नहीं हो पायी थी, और बड़े से बड़े व्यक्ति को भी, देशान्तर यात्रा के लिये, जलयानों का ही उपयोग करना पड़ता था। पारपत्र और वीसा—आदमी से आदमी को मिलने से रोकने वाली यह सब प्रणालियां काफ़ी वाद के ज़माने की उपज हैं—तब न इस तरह के कोई बन्धन थे, न इस तरह की कोई सीमाबद्धता। इसी से, तब के बन्दरगाहों में, आज के मुकाबले कहीं अधिक चमक रहती थी, और कहीं अधिक चहल-पहल।

तभी, अमरीका के पश्चिमी समुद्रतट के प्रमुख बन्दरगाह, सान फ्रांसिस्को की डाक्स पर, जापान से आने वाला एक जहाज़ रुका। उसमें से उतरा एक भारतीय युवक, अवस्था कुल उनतीस वर्ष, बदन पर हलके फुलके गैरिक वसन, मुख पर मनहर मस्ती और चाल में एक सर्वथा अनोखापन—वह चाल जैसे दुनियां से पुकार पुकार कर कह रही हो कि अपने अन्तर की रूपरेखा में उसका आधार स्तम्भ सबसे अलग

थलग है, बिलकुल भिन्न, कि जैसे दुनियां की किसी भी चीज़ से उसे कुछ भी सरोकार न हो, निर्लिप्त, निरपेक्ष। साथ में सामान की छाया भी नहीं—और फिर जो अपने आसपास के मानव वर्ग से इतना अलग दिखता हो, उसे उसकी अपेक्षा भी क्या ?

साथ में और भी यात्री थे—अमरीका की सम्पन्नता-जनित सभ्यता संस्कृति से सराबोर, किसी व्यक्ति की इस अनोखी धज की जो कल्पना भी नहीं कर सकते थे, आगे कुछ सोचने-समझने की तो बात ही दरकिनार ! लेकिन स्वभाव से ही अमरीकी नागरिक बातूनी होते हैं, अपने अंगरेज भाइयों की तरह झूठी प्रतिष्ठाओं के मायाजाल में अपने को वे कभी भी उलझा नहीं सके—और इसी से, उनमें से कुछ, फौरन ही अपने को चाल-ढाल और वेश-भूषा के इस अनोखे स्वामी की ओर बढ़ा लाये !

"आपका सामान कहां है, बन्धु ?" आश्चर्यान्वित होते हुए, उनमें से एक ने, इस भारतीय यात्री से प्रश्न किया।

युवक धीमे से मुस्कराया—"मैं तो अपने साथ कुछ भी सामान नहीं रखता !" उसने जबाब दिया—"उसकी ज़रूरत भी क्या ?"

"लेकिन पैसे ?" अमरीकन ने दुबारा पूछा। सामान के अभाव में, पैसे, आवश्यकताओं की बखूबी पूर्ति कर सकते हैं, यह बात उस अमरीकन के रक्त में बसी हुई थी, और इसी से शायद उसने यह सवाल किया था।—"पैसे तो आप रखते ही होंगे ! उसके बिना यहाँ काम भी कैसे चलेगा ?"

"वह भी मैं नहीं रखता !" युवक ने, पूरे विश्वास के

साथ, जवाब दिया—इस इतमीनान के साथ कि जैसे यह कोई खास बात ही न हो !

अमरीकन यात्री जैसे किसी अनदेखी दुनियां में पहुँच गये हों—इस तरह के किसी जवाब की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पैसों की धरती, पैसों के आसमान वाला अमरीका का देश—और वहां एक ऐसे व्यक्ति का आगमन जिसकी दृष्टि में पैसों का मोल मिट्टी बराबर भी नहीं—अचम्भे की ही बात थी ! इसके आगे, सच ही, कुछ भी सोचना उन्हें सम्भव नहीं दीख रहा था।

"तब आप यहाँ रहेंगे कैसे ?" एक अमरीकन ने, अपने को संयत करने का प्रयास करते हुए, दुबारा पूछा।

युवक के होठों पर हंसी की रेखा फूट पड़ी। वह कह रहा था : "मैं तो प्रेम के बल पर ही जिन्दा रहता हूँ। मुझे जब प्यास लगती है, मैं पाता हूँ कि कोई न कोई पानी का ग्लास लिये मेरे सम्मुख प्रस्तुत है, भूख लगने पर रोटी के टुकड़ों का अभाव मुझे कभी नहीं मिला। आप लोगों को क्या यह सब बातें अचम्भे की लगती हैं, क्यों ?

"तब तो इस देश में अवश्य ही आपके कुछ परिचित होंगे !" उस अमरीकन ने, स्वयं अपने को ही समझाने का प्रयत्न करते हुए, भारतीय युवक से कहा। वह सचमुच यह नहीं सोच पा रहा था कि सामान, धन या मित्रों के अभाव में भी, कोई भी आदमी, कैसे इस धरती पर जीवित रह सकता है !

"हैं क्यों नहीं ?" युवक ने, प्यार के साथ, उसके कन्धों पर हाथ रखते हुए उत्तर दिया, "मेरे एक मित्र तो तुम्हीं हो—और शायद अकेले भी, क्योंकि फ़िलहाल, तुम्हारे अतिरिक्त,

अभी तक यहाँ किसी से भी मेरा परिचय नहीं हुआ है !"

अमरीकन जैसे एक अप्रत्याशित उल्लास से उछल पड़ा हो। इस तरह का अनोखा व्यक्ति तो उसे पहले कहीं नहीं मिला था—ऐसा व्यक्ति, जो बिजली की एक चमक के साथ ही, तत्क्षण, मन के अन्तर में घर कर गया हो। अपनी इस भेंट का वर्णन करते हुए, अपने एक मित्र को, उसने उसी दिन लिखा : "जिस आदमी से आज मैं मिला हूँ, वह ज्ञान का अक्षय भंडार है। उसे आग जला नहीं सकती, लोहा काट नहीं सकता। एक अनोखा मस्तानापन उसकी आंखों में सदा लहराया करता है, और जब वह सामने रहता है, तो लगता है जैसे आसपास के सभी लोगों में एक नयी शक्ति और स्फूर्ति भरी जा रही हो !"

दूसरी सुबह, सान फ्रान्सिस्को से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों में जो कुछ छपा, उसका आशय था—उत्तर भारत के जंगलों से एक अजीब व्यक्ति यहां आया हुआ है—ऐसा व्यक्ति, जो दार्शनिक भी है, वैज्ञानिक भी और सन्त भी, जिसके ज्ञान की सीमा नहीं, और जो धन के भूखे अमरीका-वासियों को यह संदेश देने आया है कि बाह्य सम्पन्नता ही जीवन के लिए अनिवार्य नहीं, उससे बड़ी भी कुछ चीजें हैं जो मानव के उच्चतर विकास के लिए आवश्यक हैं और जिनके अभाव में मनुष्य कुछ भी नहीं रह जाएगा। "मैं कैसे रहता हूँ ?"—कल उसने कहा था—"वह तो बहुत सीधी-सादी बात है। मैं जीने का प्रयत्न नहीं करता, मुझे जीवन पर आस्था है। अपने अन्तर को समस्त मानव जाति के प्रेम में एकरूप करना मेरा ध्येय है, और मेरी यह प्रेमभावना ही मुझे सब के साथ एकाकार कर देती है। फिर, जहां प्रेम

का साम्राज्य है, वहां किसी दूसरी चीज़ की आवश्यकता ही कहां है—दु:ख, अभाव, निराशा यह सब तो तब भूत की ही बातें हो जाती हैं। और मेरे अन्तर की यह विश्वासशक्ति ही मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है, मुझे किसी से कुछ मांगने-कहने की जरूरत ही शेष नहीं रह जाती। इसी से कुछ भी पास न रखते हुए मैं सब चीजों का स्वामी हूँ, क्योंकि मैं एक ऐसी दुनियां का निवासी हूँ जो सामान्य जन की दुनियां से भिन्न है!"

यह थे भारत के कवि सन्त रामतीर्थ, जीवन के अल्पतम वर्षों में ही जो भारत की सांस्कृतिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक मान्यताओं को नयी सीमारेखाओं के साथ प्रदीप्त करने में सफल और समर्थ रहे, और जिनके तैंतीस वर्षों के जीवन की कहानी में हमारे देश के विकास का एक पूरा युग सन्निहित है!

आरम्भिक जीवन

भारतीय नवजागरण के उष:काल में देश ने जिन ज्ञानदीप्त विभूतियों को जन्म दिया, उनमें स्वामी रामतीर्थ का स्थान सचमुच ही अन्यतम था। तैंतीस वर्ष की छोटी सी आयु के मध्य ही अपने मानस का सीमाहीन परिष्कार कर, अन्तर् और बाह्य को इतना स्वच्छ और पारदर्शी बनाना सामान्यत: हर किसी के लिए सम्भव नहीं होता, और जब हम यह देखते हैं कि रामतीर्थ के जीवन का प्राय: पूरा काल कष्टों

और आपदाओं से संघर्ष करने में ही बीता, तब तो उनकी यह उपलब्धि हमें और भी आश्चर्यचकित कर डालती है।

रामतीर्थ के प्रारम्भिक जीवन की कहानी एक सामान्यतम भारतीय नवयुवक के जीवन की कहानी है—बल्कि सामान्यतम से नीचे की भी कोई श्रेणी होती हो, तो उसके अन्तर्गत उन्हें रखने में भी किसी को रंचमात्र हिचक नहीं होगी। पंजाब के जिस परिवार में उनका जन्म हुआ, उनकी न आर्थिक दृष्टि से ही कोई महत्ता थी, न ही सांस्कृतिक दृष्टि से। गोस्वामो हीरानन्द, रामतीर्थ के पिता, अपने गांव के एक बिलकुल मामूली पुरोहित थे, और पूजा-पाठ के पारिश्रमिक स्वरूप उन्हें जो कुछ भी धनप्राप्ति होती थी, उससे मुश्किल के साथ परिवार दो जून सूखी रोटी खा पाता था।

इस प्रकार के अर्द्धशिक्षित, पुराणपन्थी और धनहीन परिवार के बीच जन्म लेकर, कोरी प्रतिभा और विश्वास-शक्ति के बल पर आगे बढ़ना मामूली चीज नहीं कही जा सकती। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही रामतीर्थ कुछ निश्चित स्थापनाओं को साथ लेकर चले थे, और कठोरतम परिस्थितियां भी उन्हें मार्गच्युत करने में समर्थ न रह सकीं।

१८७३ ईस्वी की २२वीं अक्टूबर—बुधवार के दिन, अविभाजित पंजाब के गुजरांवाला ज़िले में स्थित मुरालीवाला गांव में रामतीर्थ का जन्म हुआ। नाम रखा गया—तीर्थराम। कहते हैं, तीर्थराम के पितामह—रामलाल ने, जो स्वयं ज्योतिषशास्त्र के एक अच्छे जानकार थे, जब नवजात शिशु की जन्मपत्री बनायी, तो उस पर दृष्टिपात करने के साथ ही वे रो भी पड़े और हंसे भी—और उनकी वह हंसी फिर बड़ी देर तक चलती रही। लोगों ने इसका कारण पूछा, तो उन्होंने

बताया—'रोया मैं इसलिये कि या तो यह शिशु स्वयं बहुत जल्दी मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा, और यदि ऐसा नहीं हुआ तो फिर उसकी मां जीवित नहीं रह सकेगी। हंसा इसलिये कि संयोगवश यदि दूसरी बात हुई और किसी तरह इसकी प्राण-रक्षा हो सकी, तो विश्व प्रसिद्धि की राह पर, चरम सफलता प्राप्त करने में, इसे दुनिया की कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती!'

दोनों ही बातें सही निकलीं। तीर्थराम जब वर्ष भर के भी नहीं हुए थे, उनकी माँ चल बसीं और जीवन के अन्तिम चरण में जिस अप्रत्याशित सफलता के वे भागी हुए, वह स्वयमेव इतिहास की चीज़ बन चुकी है। पितामह की भविष्य वाणी, इस प्रकार, अपने पूरे अर्थों में कार्यान्वित हुई।

छः वर्ष की अवस्था में तीर्थराम का दाखला गांव के प्रारम्भिक स्कूल में कराया गया, और पांच बरसों में समाप्त होने वाला स्कूल का लम्बा कोर्स उन्होंने तीन वर्ष के अन्दर ही ख़त्म कर दिया। यही नहीं, वहां की अन्तिम परीक्षा में वे प्रथम भी आए और अपनी इस सफलता के फलस्वरूप उन्हें एक छात्रवृत्ति भी मिली। स्कूली पाठ्यक्रम के अतिरिक्त तब तक फ़ारसी कवि शेख़सादी के साहित्य का पूरा अध्ययन उन्होंने कर डाला था, और उर्दू के अनेक प्रसिद्ध कवियों की रचनाएं उन्हें पूरी तरह कंठस्थ हो चुकी थीं। और इतनी सारी उपलब्धियाँ उन्हें अपने जीवन की दसवीं सीढ़ी पार करने के पूर्व ही प्राप्त हो सकीं—उत्तर प्राइमरी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के समय उनकी अवस्था कुल नौ वर्ष की थी—और इस तथ्य पर जब हम जरा थम कर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें लगता है जैसे रामतीर्थ ने न केवल अपने जीवन का एक क्षण भी बेकार जाने दिया, बल्कि उस दिशा में अपनी

उस अवस्था से वे सचेष्ट रहे, जब साधारण बच्चा ककहरा पढ़कर ही आत्मतोष पा लेता है !

दस वर्ष की अवस्था में रामतीर्थ का विवाह हुआ, और उसके तत्क्षण बाद ही, अपनी हाई स्कूल की शिक्षा प्राप्त करने के लिये, घर छोड़ उन्हें गुजरांवाला आ जाना पड़ा। यहीं पर उनकी मुलाकात धन्ना भगत नामक व्यक्ति से हुई, जिसकी सादगी और सच्चरित्रता का काफ़ी प्रभाव रामतीर्थ के प्रारम्भिक जीवन में पाया जा सकता है। गांव से दूर होने के कारण, गोस्वामी हीरानन्द, अपने पुत्र को इसी व्यक्ति की देखरेख में छोड़ गये थे, और रामतीर्थ की मन-बुद्धि को, प्रारंभ में, आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने में उसका काफ़ी बड़ा हाथ माना जा सकता है। उसकी इन विचार-उपलब्धियों के कारण ही, शायद, रामतीर्थ प्रारम्भ में उसके प्रति सीमा से अधिक आकृष्ट हो सके थे, और शिक्षार्जन काल में उसके नाम लिखे गए रामतीर्थ के पत्र इस बात के साक्षी हैं कि किस हद तक राम-तीर्थ को वह अपने परिवृत्त में बांध सका था। बाद में भी, रामतीर्थ के माध्यम से, वह हर प्रकार के लाभ उठाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा, और धीरे-धीरे राम के सम्मुख यद्यपि उसकी असलियत खुलती रही, तब भी अपनी प्रारम्भिक लगन के कारण वे कभी भी उसके प्रति अधिक उदासीन नहीं हुए और जीवन के अन्तिम चरण तक उसे प्रत्येक सम्भव सहायता देने में उन्होंने किंचित् भी संकोच नहीं किया !

यों, धन्ना भगत के नाम लिखे गये तीर्थराम के सहस्राधिक पत्र—जो बाद में पुस्तक रूप में भी संकलित और प्रकाशित हुए—उनके अपने प्रारम्भिक जीवन की रूपरेखा का सम्यक् दिग्दर्शन कराने में पूर्णतः समर्थ रहते हैं। धन्ना के नाम पहली

चिट्ठी उन्होंने शायद १८८६ के मई मास में लिखी थी—कुल तेरह वर्ष की अवस्था में। उन दिनों राम अपनी पत्नी के घर, वेरोके गये हुए थे—लेकिन धन्ना से इन कुछ दिनों का विछोह भी उन्हें सहन नहीं हो सका, और पत्र के माध्यम से उन्होंने उससे अपना सम्पर्क स्थापित किया। उस पहले पत्र में, राम ने, जिज्ञासुओं के मार्गप्रदर्शक और ज्ञान के अतुल भंडार के रूप में धन्ना की अभ्यर्थना की थी। अपने बाद के एक पत्र में उन्होंने लिखा: "मैंने आपके चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है।" गुजरांवाला में रहते हुए, कहते हैं, राम अपना अधिक समय धन्ना के सान्निध्य में ही व्यतीत करते थे, और धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन का प्रारम्भ उन्होंने उसी के संरक्षण में किया।

लेकिन धन्ना से उनका यह वैयक्तिक सान्निध्य बहुत दिनों तक चालू नहीं रह सका। हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिये, लाहौर जाने का प्रश्न जब उनके सम्मुख आया, तो सबसे पहले उन्हें धन्ना से ही विदा लेने के लिये विवश होना पड़ा। यों भी, मानसिक और अर्थकष्ट की दृष्टि से, राम के लिये वह एक कठोरतम परीक्षा का वर्ष था। दुर्भाग्यवश, यदि उसमें असफल हो जाते, तो शायद उनका पूरा जीवन ही अन्धकार में बीतता। पिता चाहते नहीं थे कि राम आगे पढ़ें। हाई स्कूल की परीक्षा उन दिनों अपने में एक खासी बड़ी परीक्षा मानी जाती थी, और हीरानन्द जैसे धनहीन पिता के घर जन्म लेकर आगे पढ़ने की बात भी, आर्थिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए, सच ही एक अकल्पनीय महत्वाकांक्षा थी। प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बावजूद भी, सफल छात्रों की सूची में,

अड़तीसवां स्थान ही राम ग्रहण कर सके थे, और इससे उन्हें वह छात्रवृत्ति भी नहीं मिल पायी थी जिसके बल पर आगे पढ़ने की बात कोई सोचता। हीरानन्द ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया था कि आगे की पढ़ाई के लिये उनके पास पैसा नहीं है। ऐसी अवस्था में, और वह भी घर से दूर—लाहौर जैसे नगर में रहकर—शिक्षा चालू रखने का प्रश्न, सचमुच ही, मुश्किल था।

लेकिन राम ने इन पर्वताकार कठिनाइयों की परवाह नहीं की, और घर वालों के प्रतिरोध के बावजूद भी, लाहौर आकर वहां के मिशन कालेज में अपना नाम लिखा लिया। यह मई, १८८८ की बात है, और वे तब अपने जीवन के पन्द्रह वर्ष भी पूरे नहीं कर पाये थे !

लाहौर पहुँचने के बाद, धन्ना भगत के नाम लिखे गए रामतीर्थ के पत्रों से, उनकी तत्कालीन स्थिति का पूरी तरह पता लगता है। वहां बच्छोवाली गली में स्थित जिस तंग, सीलनभरी कोठरी को उन्होंने अपने रहने के लिए किराए पर लिया था, उसका किराया एक रुपया मासिक था—लेकिन एक ऐसे व्यक्ति के लिए जिसे खोटे पैसे की भी आमदनी न हो, यह रुपया भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। शिक्षाशुल्क के भी चार पांच रुपए लग ही जाते थे—और किसी आर्थिक सहायता के अभाव में यह कठिनाइयां एक बड़े प्रश्नचिह्न के रूप में रामतीर्थ के सम्मुख आ खड़ी हुई थीं। उन्हीं दिनों, संयोगवश, अपने क्षेत्र के प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थियों की सहायतार्थ, गुजरांवाला जिला बोर्ड ने, आठ रुपये मासिक की एक विशेष छात्रवृत्ति देने की घोषणा की, और रामतीर्थ उसे पाने में समर्थ रहे। यह उनके लिए मरुभूमि में ओसिस की

प्राप्ति थी। कहते हैं, उन दिनों रामतीर्थ के पास इतना पैसा भी नहीं था कि चिराग़ जला कर उसकी रोशनी में अध्ययन कर सकें—भरपेट खाने पीने की तो बात ही क्या। अपनी अनेक रातें उन्होंने सड़क की बत्तियों के प्रकाश में किताबें पढ़ कर बिताईं और आधा पेट भी खाना उन्हें शायद ही किसी दिन मिल पाया हो। इस कठोरतम परिश्रम और सामान्य सुख-सुविधाओं के अभाव का फल यह हुआ कि उनका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता गया, और इन्टरमीजिएट परीक्षा के दिनों में तो वे इतने अधिक दुर्बल और शक्तिहीन हो गए थे कि उनका परीक्षा में बैठना भी दुर्लभ लगने लगा था। लेकिन उनके शिक्षकों ने उन्हें उसमें सम्मिलित होने के लिए पूर्णतः उत्साहित किया, और तन मन से पूरी तरह जर्जर होने के बावजूद भी राम उसमें बैठे।

इन्टरमीजिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी रामतीर्थ की आर्थिक कठिनाइयों में कोई विराम नहीं आया, बल्कि बाद के वर्ष पिछले वर्षों की अपेक्षा उनके लिए अधिक कष्टकर रहे। इस बार पिता ने न केवल किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देने से ही इनकार कर दिया था, बल्कि पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने की धमकी भी दे डाली थी, और इस धमकी के बावजूद भी राम ने जब बी. ए. में अपना नाम लिखा लिया तो हीरानन्द अपनी पुत्रवधू को भी उन्हीं के पास छोड़ गए। सौभाग्य से, इन्टरमीजिएट में विशेष योग्यता प्राप्त करने के कारण रामतीर्थ को विश्वविद्यालय की छात्रवृत्ति प्राप्त हो गयी थी, और इससे उन्हें तत्क्षण कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। परन्तु उस छोटी सी वृत्ति में ही अपना और पत्नी का व्यय पूरा करना आसान काम नहीं

था—खासतौर पर तब और भी जब उसका अधिकांश भाग पुस्तकों के क्रय में व्यय हो जाता था, और मकान किराए आदि के सामान्य खर्च के बाद जो कुछ बचता था, उसे धन्ना भगत मांग ले जाते थे। बीच बीच में घर वालों की फ़रमाइशें भी आया ही करती थीं, और पिता द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद की धमकी प्राप्त होने के बावजूद भी राम यथासम्भव उनकी पूर्त्ति में कोई संकोच नहीं करते थे !

बी. ए. के अध्ययन के पहिले ही साल, शायद, हिसाब लगाने पर राम को मालूम हुआ कि आवश्यक खर्चों को निकालने के उपरान्त, उनके खाने के लिए, कुल तीन पैसे रोज बचते हैं। "कोई बात नहीं !" उन्होंने अपने मन में सोचा, "भिखमंगे यदि दो तीन पैसों पर अपना दिन काट सकते हैं, तो मैं वैसा क्यों नहीं कर सकता ?" और उसके बाद उन्होंने सचमुच ही तीन पैसे रोज पर अपने दिन काटने शुरू कर दिए। दो पैसों की रोटियां सुबह और एक पैसे की शाम को—यही उनका दिन भर का आहार था। यह व्यवस्था भी चलती रहती, तो कोई बात नहीं थी। कुछ ही दिनों बाद होटल वाले ने उनसे आपत्ति की कि रोटियों के साथ दाल बिना पैसे लिए वह नहीं दे सकेगा—मुफ्तखोरों को खिलाने का उसने ठेका नहीं लिया है। बात लगने वाली थी, लेकिन राम ने उसका बुरा नहीं माना। आगे से उन्होंने दिन भर में एक ही समय, दो पैसों की रोटी और एक पैसे की दाल खाना शुरू कर दिया, और उनका यह क्रम महीनों तक चलता रहा !

अपने अध्ययन के इसी काल की एक घटना का वर्णन करते हुए रामतीर्थ ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—अपने

छात्र जीवन में जिन दिनों मैं बी. ए. की तैयारी कर रहा था, मेरे साथ, मेरे ही कमरे में, एक अन्य विद्यार्थी भी रहता था—मनमौजी, मस्त और खिलाड़ी। युवावस्था के अनुरूप सभी विशेषताएं उसमें थीं, और अपना अधिकांश समय वह नाचने, गाने और खेलने-कूदने में ही व्यय किया करता था। एक दिन किसी व्यक्ति ने उससे पूछा कि आखिर वह अपना कितना समय अध्ययन में व्यतीत करता है। हंसते हुए उसने उत्तर दिया—पूरे अठारह घण्टे! "कैसे?" उस व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया, "चार-पांच घण्टे तो तुम, मेरी आँखों के सामने ही व्यर्थ की उछल कूद में व्यय करते हो, चौवीस में से आठ नौ घण्टे, कम से कम, तुम्हें सोने के लिए चाहिए। बचता है कुल दस या बारह घण्टे का समय—और उस छोटी सी अवधि में तुम्हें अठारह घण्टे कैसे पढ़ना लिखना सम्भव हो पाता है?"

युवक ने उत्तर दिया–"लगता है, आपने गणित का अध्ययन नहीं किया है। मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि पूरे अठारह घण्टे मैं अध्ययन करता हूं।"

"वह कैसे?"

"सुनिए", युवक फिर बोला, "मैं, और यह राम, दोनों एक ही कमरे में रहते हैं। अब, आपके ही अनुसार, अगर मैं सिर्फ़ बारह घण्टे ही अध्ययन कर पाता हूँ, तो यह राम साहब तो पूरे चौबीस घण्टे लिखा पढ़ा करते हैं। दोनों के अध्ययन का कुल जोड़ हुआ छत्तीस घण्टे। अब इसे दो बराबर के हिस्सों में बांट दीजिए—मेरे हिस्से में अठारह घण्टे पड़े, या नहीं?"

'ख़ैर, मैं मान लेता हूँ कि इस हिसाब से तुम अठारह

घण्टे पढ़ लेते हो, लेकिन राम भला लगातार चौबीस घण्टों तक कैसे पढ़ सकता है ?"—उस व्यक्ति ने, आश्चर्यान्वित होते हुए, प्रश्न किया—"वह सम्भव भी कैसे हो सकता है ? मुझे मालूम है कि राम बहुत ही परिश्रमशील विद्यार्थी है, मुझे यह भी मालूम है कि वह एक साथ अनेक विषयों की तैयारी कर रहा है और मैं जानता हूँ कि न केवल अपना विश्वविद्यालय सम्बन्धी पाठ्यक्रम ही वह पूरा कर रहा है बल्कि उससे चौगुनी मेहनत कर अन्य कई विषयों में भी अपनी योग्यतावृद्धि कर रहा है—लेकिन तब भी यह कैसे सम्भव हो सकता है कि दिन भर के पूरे चौबीस घण्टे वह अध्ययन में ही व्यय करे ? आखिर, प्रकृति की भी कुछ सीमाएं होती हैं न ?"

युवक ने स्पष्टीकरण देना शुरु किया। उसने कहा—मैं आपको दिखा सकता हूं कि खाने पीने के वक्त भी राम अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते। उनके पास सदा एक कागज़ पैन्सिल रहती है, उस काग़ज में निश्चित ही गणित या विज्ञान की किन्हीं समस्याओं का संकेत रहता है और उनकी पूर्त्ति में राम प्रतिक्षण अपने को संलग्न रखते हैं। या फिर उनके पास कोई साहित्यिक ग्रन्थ रहता है या कोई कविता पुस्तक, जिसका मनन अध्ययन उठते बैठते हमेशा चलता रहता है। यह भी नहीं, तो किसी न किसी पद्यरचना में उनका मन लगा रहता है, और बड़े से बड़ा आराम करते वक्त भी उससे उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती। उनके स्नानागार तक की दीवारें खड़िया और कोयले की सफेद काली रेखाओं के रूप में गणित की समस्याओं के हल से अंकित हैं, सोते समय भी उनके मन-मस्तिष्क में वही सब समस्याएँ

उलझा-सुलझा करती हैं, और स्वप्न भी वे उन्हीं चीजों के देखते हैं जिनके सम्बन्ध में दिन भर अध्ययन किया है। अब आप ही बताइए, इस तरह उनके पूरे के पूरे चौबीस घण्टे पढ़ने-लिखने में ही क्या नहीं बीतते ?

बात सही ही थी। जो व्यक्ति अपने अठारह घण्टे मात्र अध्ययन में व्यतीत करता हो, शेष के छः घण्टे भी उसे उस कार्य से मुक्ति नहीं दिला सकते—भले ही स्वप्नावस्था में वह उन चीजों का स्मरण कर रहा हो। इस वर्णन पर जब हम विचार करते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि अध्ययन और अध्ययन जैसी अन्य चीजों में राम को कितनी गहरी रुचि थी। और अध्ययन सिर्फ पाठ्यक्रम का ही रहा हो, ऐसी बात भी नहीं। दर्शन और विज्ञान, धर्म और साहित्य, सभी का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया, और सभी में उन्होंने उच्चतम योग्यता प्राप्त की।

अपनी इन विशेषताओं के फलस्वरूप ही, शायद, बी. ए. कक्षाओं को गणित पढ़ाने वाला राम का एक प्राध्यापक जब बीमार हुआ और उसके कारण उसे महीने भर की छुट्टी लेनी पड़ी, तब, उसके स्थान पर, राम को ही, स्वयं अपनी कक्षा को, गणित पढ़ाने का भार सौंप दिया गया। यह एक विस्मय-कारक उपलब्धि थी, लेकिन राम उसमें पूरी तरह सफल रहे। अंग्रेजी में कमजोर होने के बावजूद भी, गणित में, राम विश्वविद्यालय के सर्वाधिक मेधासम्पन्न छात्र समझे जाते, और उस विषय में उन्हें सदा ही शीर्षस्थान प्राप्त होता। इसी कारण उन्हें यह अप्रत्याशित महत्त्व का कार्य सौंपा गया था, और पूरे परिश्रम के साथ उन्होंने उसे सम्पन्न भी किया। लेकिन इस दिशा में उन्हें जो विशेष परिश्रम करना

पड़ा, उसके फल स्वरूप अन्यान्य विषयों के अध्ययन में उन्हें कमी कर देनी पड़ी, और इसका फल यह हुआ कि बी. ए. का परीक्षाफल जब निकला तो उसमें राम का नाम नहीं था। स्वयं राम ही नहीं, उनके शिक्षक और प्रिंसिपल तक इस फल को देख कर अचम्भे में आ गए—खासतौर पर ऐसी हालत में जब प्राप्त अंकों के कुल जोड़ में राम विश्वविद्यालय भर में सर्वोच्च आए थे। पता लगाने पर मालूम हुआ कि कुछ बहुत जरा से नम्बरों से राम अंग्रेजी में उत्तीर्ण होने से रह गए, जबकि वह छात्र, जो कक्षा में सबसे कमजोर माना जाता था, उस विषय में प्रथम आया था। यह एक आश्चर्यजनक बात थी, और राम के लिए तो वह एक जीवित अभिशाप बन कर उपस्थित हुई। उन्हें विश्वास था कि उस वर्ष की वैदेशिक छात्रवृत्ति, जो २२ वर्ष की अवस्था तक के गणित के सर्वाधिक मेधासम्पन्न छात्र के लिए घोषित हुई थी, उन्हें निश्चित ही प्राप्त हो जाएगी। लेकिन वैसा होना तो अब सम्भव नहीं था। यही नहीं, वह सामान्य छात्रवृत्ति, जो विश्वविद्यालय की शिक्षाप्राप्ति के लिए उन्हें मिला करती थी, अनुत्तीर्ण होने के कारण स्थगित हो गयी, और राम बिना एक कानी कौडी के रह गए !

निश्चित ही यह एक ऐसी परिस्थिति थी, जो राम को जीवन की दौड़ से थका देने के लिए पर्याप्त थी। इस बीच उनके कई दिन निराहार बीते—इतना पैसा भी उनके पास नहीं था जिससे सूखे चने चबा कर भी पेट भरना सम्भव हो सके। संयोगवश, उनके कालेज के हलवाई, झंडूमल को जब इस बात का संकेत मिला, तो वह तत्क्षण ही रामतीर्थ को अपने यहां बुला लाया—और न केवल उसने उन्हें अपने यहां

रहने का ही स्थान दिया बल्कि खाने-पीने की भी पूर्ण व्यवस्था कर दी। यह एक प्रकार से ईश्वरकृत सहायता थी, जिसे राम ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। इस बीच उनके कालेज के प्रिंसिपल ने भी उन्हें कुछ आर्थिक मदद दी, और राम फिर से बी. ए. कक्षा में अपना नाम लिखाने में समर्थ रह सके। कालेज के एक अन्य शिक्षक, प्रो० गिलबर्टसन ने भी समय समय पर उनकी सहायता करने का प्रयत्न किया, कुछेक वैयक्तिक ट्यूशन भी उन्हें बीच बीच में प्राप्त होते रहे, और इस प्रकार उनका वह साल पूरा हो सका। बी. ए. अर्द्धवार्षिक परीक्षा के गणित के प्रश्न पत्र में, उस वर्ष, उन्हें डेढ़ सौ में से १४८ अंक मिले थे, और वार्षिक परीक्षा में तो उन्होंने कमाल ही कर दिखाया। परीक्षक ने तेरह प्रश्न देकर उनमें से कोई भी नौ कर लेने की छूट छात्रों को दी थी। राम ने तेरह के तेरह प्रश्न कर डाले, और नीचे नोट डाल दिया कि परीक्षक इनमें से कोई भी नौ उत्तर जांच ले। फल यह हुआ कि राम न केवल प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुए, बल्कि पूरे विश्वविद्यालय भर में उन्हें सर्वोच्च स्थान मिला, और इस प्रकार वे सोने के एक तमगे के अतिरिक्त पचास रुपए का विशेष पुरस्कार और साठ रुपए मासिक की छात्रवृत्तियां पाने में भी समर्थ रह सके।

एम. ए. में नाम लिखाने के लिए राम को अपने पुराने मिशन कालेज को छोड़ कर गवर्नमेंट कालेज में आना पड़ा। मिशन कालेज में उन दिनों एम. ए. तक की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं था। लेकिन उस कालेज के साथ, इतने वर्षों के अन्दर, उनकी जो आन्तरिक आत्मीयता स्थापित हो गयी थी, उसे भी वे पूर्ण विराम देना नहीं चाहते थे। संयोगवश उन्हीं दिनों

वहां के गणित के प्रोफेसर साल भर की छुट्टी लेकर घर, इंगलैण्ड गए और राम को उनके स्थान पर कार्य करने का अवसर मिल गया। लेकिन अपनी इन सेवाओं के लिए राम ने कुछ भी पारिश्रमिक स्वीकार नहीं किया और पूरे साल वहां अवैतनिक कार्य करते रहे। अपने पुराने कालेज के प्रति उनके स्नेह सम्बन्ध की यह पराकाष्ठा थी। उन दिनों राम मिशन कालेज के अध्यापक थे, और गवर्नमेन्ट कालेज के छात्र—लेकिन उनके किसी भी कर्त्तव्य ने एक दूसरे के प्रति व्यवधान उपस्थित नहीं किया। अध्ययन और शिक्षण की यह समान गति, बहुत ही कम लोगों के जीवन में, देखने को मिल सकेगी।

इण्डियन सिविल सर्विस में जाने की बात भी उन्हीं दिनों उनके सम्मुख आयी। विश्वविद्यालय के अधिकारी यह चाहते थे कि पंजाब सरकार द्वारा दी जाने वाली दो सौ पाउन्ड वार्षिक की छात्रवृत्ति रामतीर्थ को ही मिले—परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के नाते वे उसके अधिकारी भी थे—लेकिन प्रयत्नों के बावजूद भी वह उन्हें नहीं मिल सकी। यों सिविल सर्विस के लिए तो नहीं, पर गणित का उच्च अध्ययन करने के लिए राम अवश्य ही विदेश जाना चाहते थे। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उन्हें पूरा आश्वासन दिया था कि वह वृत्ति उनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं मिल सकती और उनके कालेज के प्रिंसिपल, श्री बेल, भी इस दिशा में पूर्ण आश्वस्त थे। परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से, जिनमें सम्भवत: एक वर्ग विशेष की सिफारिशें ही मुख्य थीं, ब्लू रिबन की यह छात्रवृत्ति श्री (अब डा०) परांजपे

को मिल गयी, और रामतीर्थ गणित विज्ञान के सीनियर रैंगलर होते होते रह गये !

इस घटना के तत्क्षण बाद ही, विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने, सिविल सर्विस में शामिल होने का प्रस्ताव जब उनके सम्मुख रखा और गवर्नमेन्ट कालेज के प्रिंसिपल ने विश्वास के साथ यह बात कही कि निश्चित ही उस दिशा में उन्हें नामांकित कराने में वे सफल हो सकेंगे, तो राम ने फौरन ही यह जवाब दिया था—इतना सारा परिश्रम मैंने बेचने के लिए नहीं, बांटने के लिए किया है। सरकारी अधिकारी बनने की अपेक्षा मैं एक सामान्य शिक्षक बनना अधिक पसन्द करूँगा !

मन की इन्हीं विस्मयकारी उपलब्धियों के मध्य, सन् १८९५ के अप्रैल मास में--जब वे सिर्फ अपना इक्कीसवां वर्ष पूरा कर पाये थे—रामतीर्थ ने प्रथम श्रेणी में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की !

आध्यात्मिक विकास

१८९५ से १९०० तक के पांच बरस आन्तरिक परिष्करण की दृष्टि से रामतीर्थ के जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष हैं। इस काल के अन्तर्गत न केवल उन्होंने अन्तिम रूप से अपने जीवन की लक्ष्यरेखा निर्धारित की, बल्कि उस सीमाबिन्दु तक पहुँचने के मार्ग के सारे संघर्षों तथा आपदाओं का भी तटस्थ होकर मूल्यांकन किया और इस बात के प्रयत्न किये कि वे

भरसक उसके अनुरूप अपने को बना सकें। इसी अवधि के अन्तर्गत उनकी संन्यास से पूर्ववर्ती मानसिक, आध्यात्मिक उपलब्धियों का भी सम्यक् संचयन हुआ, और जैसे जैसे बरस बीतते गये, यह स्पष्ट होता गया कि जैसे जिन्दगी के यज्ञकुण्ड से कुन्दन के डले बन कर वे निकल रहे हों।

लेकिन जिन्दगी व्यतीत करने के लिये, प्रारम्भ में, आदमी को लोहे जैसी कठोरता और कालापन ही अपनाना पड़ता है, सोने की चम्पई चमक ज्यादा दिनों तक उसका साथ नहीं दे पाती—और रामतीर्थ इसी दिशा में अपने को पूर्ण असमर्थ पाते थे। विश्वविद्यालय से निकलने के बाद कई कालेजों में उन्होंने आवेदन पत्र भेजे, पर कहीं भी उन्हें तत्काल सफलता नहीं मिल सकी। यहाँ तक कि प्रान्त के शिक्षा संचालक के नाम भेजा गया उनका पत्र भी, जिसमें उन्होंने विभाग के अन्तर्गत किसी भी पद पर शिक्षण का कार्य करने की कामना व्यक्त की थी, कोरा ही वापस आ गया, और उस पर उनके भूतपूर्व प्रिंसिपल, श्री बेल द्वारा दी हुई टिप्पणी कुछ भी काम नहीं दे पायी। अन्त में, श्री बेल की आर्थिक सहायता से ही, उन्होंने निजी शिक्षण की कक्षाएं चालू कीं। पर यह होते हुए भी कि उन कक्षाओं में न केवल भारतीय, बल्कि अनेक यूरोपीय विद्यार्थियों ने भी नाम लिखाया था और कुछ स्थानीय कालेजों के गणित शिक्षक भी उसमें पढ़ने आया करते थे, वह अधिक दिनों तक चल नहीं पायीं और रामतीर्थ को कुछ ही समय बाद उन्हें बन्द कर देने के लिये विवश हो जाना पड़ा।

इस बीच, मात्र दुग्धाहार के साथ इतना कड़ा परिश्रम करने के कारण, वे बीमार भी हो गये थे, पर स्वस्थ होने के

उपरान्त उन्होंने दुबारा, अपनी ओर से, कभी भी नौकरी के लिये प्रयत्न नहीं किया और स्थानीय सनातन धर्म सभा के माध्यम से वे पूरी तरह समाज-सेवा में जुट गये। इन्हीं दिनों उन्हें चित्रकला सीखने की ओर भी रुचि उत्पन्न हुई, और एक स्थानीय कालेज में उन्होंने उसका अध्ययन भी प्रारम्भ किया। लेकिन यह अध्ययन अभी वे सम्यक् रूप से पूरा भी नहीं कर पाये थे कि स्यालकोट के ईसाई मिशन स्कूल से उन्हें नौकरी का एक आमन्त्रण मिला, और अपनी कला-शिक्षा उन्हें अधूरी छोड़ देनी पड़ी।

अपना पहला सार्वजनिक भाषण भी, रामतीर्थ ने इन्हीं दिनों दिया था। स्यालकोट पहुँचने के पूर्व ही, सनातन धर्म सभा द्वारा वज़ीराबाद में आयोजित एक सभा में वे सम्मिलित हुए, और वहीं उन्होंने अपने व्याख्यानों का श्रीगणेश किया। उसके बाद तो, स्यालकोट में अध्यापन करते हुए भी, वे अनेक संस्थाओं द्वारा व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किये जाने लगे। पंजाब और उसके सीमावर्ती प्रदेशों के गुजरात, वज़ीराबाद, जम्मू, घड़तल, डस्का आदि अनेक स्थानों का भ्रमण उन्होंने इस सम्बन्ध में कर डाला, और एक भाषण-कर्ता के रूप में अच्छी खासी ख्याति अर्जित कर ली।

लेकिन स्यालकोट में भी, अधिक दिनों तक, उनका रहना सम्भव नहीं हो सका। वहाँ की जलवायु उनके लिये किंचित् अनुकूल नहीं थी, और इस दौरान में वे बीमार भी कई बार हुए। अपनी इसी कमजोरी के फलस्वरूप, एक दिन, कक्षा में पढ़ाते पढ़ाते ही वे बेहोश भी हो गए थे, और इसी कारण उनके लिये स्यालकोट छोड़ना अनिवार्य सा हो गया। संयोगवश उन्हीं दिनों लाहौर के फारमैन क्रिश्चियन कालेज में

पढ़ाने का आमन्त्रण उन्हें मिला, और स्यालकोट से विदा लेकर तत्क्षण ही वे वहाँ आ गए। यह १८९६ के अप्रैल मास की बात है। प्रारम्भ में तो एक सहकारी शिक्षक के रूप में ही वहाँ उनकी नियुक्ति हुई थी, लेकिन एक महीने बाद ही वे अपने विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक बना दिये गये। क्रिश्चियन कालेज में अध्यापन के दौरान में ही उन्होंने गणित विज्ञान के सम्बन्ध में एक पुस्तिका का प्रकाशन भी किया था, जो उन दिनों काफ़ी समादृत और लोकप्रिय हुई।

राम अपने छात्रों के बीच लोकप्रिय थे, और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, यह लोकप्रियता भी बढ़ती रही। गणित ही नहीं, भारतीय दर्शन और वेदान्त का अध्ययन करने भी अनेक विद्यार्थी राम के पास आया करते थे, और इन छात्रों में विदेशियों की संख्या ही अधिक होती थी। कालेज के अधिकारियों को यह बात सह्य नहीं हुई। एक तो वह ईसाई मिशनरियों का कालेज था, जिनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा नहीं, अपने धर्म का प्रचार करना ही होता है, और दूसरे राम जिस दिशा में वहाँ लोकप्रिय हो रहे थे, वह गणित-विज्ञान नहीं, धर्मविज्ञान था—और वह भी भारत का धर्मविज्ञान। विदेशी धर्म का प्रसार-प्रचार करने को अपना चरम लक्ष्य बनाने वाले कालेज के अधिकारियों को यह बात रुचिकर भी कैसे हो सकती थी कि उनकी जमा-पूंजी एक बाहर का व्यक्ति छीन ले जाए। फलस्वरूप राम को कालेज छोड़ देने का परामर्श दिया गया, और बिना कुछ भी आपत्ति किये वे वहाँ से निकल आये। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि बाद में पंजाब विश्वविद्यालय के जिस ओरिएण्टल कालेज में उन्हें गणित की रीडरशिप मिली, वहां काम केवल दो घण्टे का

था—और वह भी मात्र सर्वोच्च कक्षाओं को पढ़ाने का। इस परिवर्तन का प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि अपने आध्यात्मिक मनन-चिन्तन में राम को अधिक समय व्यतीत करना सम्भव हो सका, और इसी बीच उनके मन-मस्तिष्क में वे लहरें प्रवाहित हुई जो बाद में पूर्ण ब्रह्म के रूप में उनमें प्रकाशमान हो सकीं।

अपने लाहौर निवासकाल में देश के जिन प्रमुख व्यक्तियों से राम का सम्पर्क स्थापित हुआ था और जिनका सान्निध्य उनके भविष्य जीवन के लिये मार्गदर्शक के रूप में सामने आया, उनमें दादाभाई नौरोजी, स्वामी विवेकानन्द और द्वारकापीठ के तत्कालीन शंकराचार्य के नाम मुख्य हैं। दादाभाई नौरोजी से उनकी भेंट सन् १८९३ के अन्तिम दिनों में हुई थी। तब लाहौर में सम्भवत: कांग्रेस का कोई अधिवेशन हो रहा था और दादाभाई उसी में सम्मिलित होने के उद्देश्य से वहां आये थे। ब्रिटिश संसद् के अकेले भारतीय सदस्य होने के नाते उन दिनों देश की राजनीति में उनका एक विशेष स्थान बन गया था और राम उनकी महत्ता से अपरिचित नहीं थे। बी. ए. उत्तीर्ण करने के बाद मानसिक दृष्टि से भी, राम को उन दिनों राजनीति में कुछ रुचि होना शुरू हो गयी थी, और दादाभाई का कुछ उलटा प्रभाव यदि उन पर न पड़ा होता तो निश्चित ही सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में वे उतर पड़ते।

रामतीर्थ लाहौर कांग्रेस में एक दर्शक की भांति सम्मिलित हुए और वैयक्तिक रूप से भी दादाभाई के साथ विचार-विमर्श करने का शायद उन्हें कुछ अवसर मिला। तब तक देश की स्वतन्त्रता के लिये अपना सर्वस्व अर्पण

करने वाली संस्था के रूप में काँग्रेस का उदय नहीं हो पाया था। पढ़े-लिखे, अभिजातवर्गीय भारतीयों की शोभा संस्था के रूप में ही उसकी उत्पत्ति हुई थी, और उसके अधिवेशनों में भी काम की बातों के स्थान पर व्यर्थ के ही कार्य-कलाप हुआ करते थे। दूसरी ओर, उन दिनों भी, राम के मन-मस्तिष्क में स्वतन्त्रता की लहरों ने जोर मारना शुरू कर दिया था और देश की भूमि से विदेशी शासन की समाप्ति उनका लक्ष्य बन चुकी थी। इसी से दादाभाई नौरोजी और कांग्रेस, किसी का भी प्रभाव उनके मन पर अच्छा नहीं पड़ा और जिस उत्साहबहुलता के साथ वे कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे, उससे अधिक उत्साहहीनता से वे वहां से वापस लौटे।

दादाभाई के आगमन का समाचार देते हुए, अपने २६ दिसम्बर १८९३ के पत्र में, उन्होंने धन्ना भगत को लिखा था—ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्य, दादाभाई नौरोजी, आज तीन बजे की गाड़ी से यहां पहुंचे। नगर ने उनका शानदार स्वागत और अभिनन्दन किया। जनता का उत्साह अपनी सीमा तोड़ चुका था, और कांग्रेस वालों ने उन्हें ब्रह्मा और विष्णु जैसा महत्त्व प्रदान कर दिया। उनके स्वागत में जगह जगह पर सुनहरे द्वार बनाए गए थे, और इस समय भी उनके जूलूस की ध्वनियां कानों में पड़ रही हैं। जनता खुशी से झूमी जा रही है, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि मुझ पर इस सबका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सका। और आखिर यह इतनी सारी खुशी है भी किसलिये ?

पांच ही दिनों बाद, ३० दिसम्बर को उन्होंने फिर लिखा—कांग्रेस अधिवेशन में मैं सम्मिलित हुआ था और वह भी

इसलिए कि मैं स्वयं भारत के महान् नेताओं की वाणी सुन कर उनके सम्बन्ध में अपने विचार स्थिर कर सकूं। मुझे सन्तोष है कि साधारण जनता की तरह मैं कोरी भावनाओं में नहीं बह सका, और न ही कांग्रेस नेताओं के खोखले भाषण मेरे हृदय में कोई शक्ति या उछाह भरने में समर्थ हो पाए। वह अब भी पहिले जैसा ही रीता है!

दादाभाई के विपरीत, स्वामी विवेकानन्द एक अविजित दीपशिखा के रूप में उनके सम्मुख प्रकाशित हुए और राम को ऐसा लगा जैसे उन्होंने अपने विचार-दर्शन का सर्वस्व पा लिया हो। विवेकानन्द से भी उनकी भेंट लाहौर में ही हुई थी। अपनी अमरीका-यात्रा समाप्त कर उन्हीं दिनों विवेकानन्द भारत वापस लौटे थे। वेदान्त और धर्मचिन्तन से सम्बंधित उनकी क्रान्तिकारी मान्यताएँ देश की चिन्ता का प्रमुखतम अंग बन चुकी थीं। विवेकानन्द के पूर्व आध्यात्मिक तत्वों की इतनी नूतन व्याख्या और कोई भी व्यक्ति नहीं कर पाया था, और रामतीर्थ पर उनकी इसी उपलब्धि का सबसे व्यापक प्रभाव पड़ा।

लाहौर में स्वामी विवेकानन्द के स्वागत एवं भाषणों की व्यवस्था रामतीर्थ ने ही की थी, और उनके समस्त कार्यक्रमों के संयोजन का भार उन्हीं पर था। वहाँ पर उन का पहला व्याख्यान भक्तिदर्शन पर हुआ। परन्तु राम के विचारों के अनुसार, वेदान्त के सम्बन्ध में बोलते हुए ही विवेकानन्द अधिक सफल रहते थे—उसी विषय में शायद उन्होंने पारंगतता भी प्राप्त की थी—अन्य किसी विषय में नहीं। इस दिशा में अपने संस्मरणों का उल्लेख करते हुए, एक बार, रामतीर्थ ने स्वयं कहा था—"बोस सर्कस घर से

ध्यानसिंह की हवेली—जहां विवेकानन्द ठहरे हुए थे—वापस लौटते हुए मैंने स्वामी जी से कहा कि भक्ति के सम्बन्ध में उनका व्याख्यान उतना बढ़िया नहीं रहा जितना होना चाहिए था।" इसके दूसरे दिन ही वेदान्त के सम्बन्ध में विवेकानन्द के भाषण की घोषणा हुई, और आयोजन अद्वितीय रूप से सफल रहा।

लगता है, घरबार त्याग कर साधुवेश में दुनिया भर में अलख जगाने की प्रेरणा, पहिले पहल, रामतीर्थ को विवेकानन्द के माध्यम से ही प्राप्त हुई। विवेकानन्द के वेदान्त में पुराणपन्थी अद्वैतवाद नहीं था। नये युग की नयी आंखों द्वारा उन्होंने उसे देखा, और ज़माने की जरूरतों के अनुसार ही उन्होंने उसकी रूपरेखा निर्धारित की। न केवल भक्ति और कर्म, बल्कि देश-प्रेम और मानवतावाद की कसौटी पर भी उन्होंने उसे अच्छी तरह देखा-परखा था, और राजनीति तक में उसका समावेश कर सकने में वे पूरी तरह समर्थ रहे थे। वेदान्त के क्षेत्र में यह एक सर्वथा अनोखी उपलब्धि थी। इसके पूर्व उसका सम्बन्ध केवल दर्शनशास्त्र से था—दैनन्दिन व्यवहार की दिशा में किसी ने भी उसकी समीक्षा-परीक्षा नहीं की थी। निश्चित ही रामतीर्थ पर इन सब बातों का बहुत प्रभाव पड़ा। अपने मानस की आन्तरिक बनावट में वे पहले से ही एक स्वच्छन्द अद्वैतवाद के उपासक थे। विवेकानन्द ने अन्तर में छिपी तत्सम्बन्धित भावनाओं को समुचित स्वर प्रदान किया, और एक पहाड़ी झरने की तरह वे तत्क्षण बाहर प्रवाहित हो चलीं।

भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित द्वारका मठ के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, श्री माधवतीर्थ भी, राम के लिये,

विवेकानन्द के पूरक बन कर ही उपस्थित हुए। व्यावहारिक वेदान्त की जिस किरणमयी अग्नि को राम के हृदय में विवेकानन्द ने प्रस्फुटित किया था, उसका परिष्कार किया माधवतीर्थ ने। रामतीर्थ को, उस काल में, एक ऐसे मार्ग-दर्शक की अपेक्षा भी थी जो उनकी अन्तर तथा बाह्य की भावनाओं का समुचित सन्तुलन कर सामान्य गति के साथ उनका परिचालन कर सके। कृष्णभक्ति के आवेश में उन दिनों वे अपने को पूरी तरह सरावोर पा रहे थे, और कभी कभी तो ऐसी अवस्था हो जाती थी कि लगने लगता था जैसे वे उसके पीछे दीवाने हुए जा रहे हों। भक्ति की इस भावना का समय पर नियन्त्रण न हुआ होता तो शायद अपने मस्तिष्क का संतुलन वे खो भी बैठते—क्योंकि उन दिनों अपना अधिकांश समय वे कृष्ण की खोज में ही व्यतीत किया करते थे और जीवन के काल की उनकी अधिकांश रातें रावी के तट पर अपने प्रियतम को पुकारते हुए ही बीततीं। मन की उस भावनात्मक प्रगति को विवेक के मार्ग की ओर मोड़ना उन दिनों अपेक्षित ही था और इस कार्य को सम्पन्न किया माधवतीर्थ ने।

इस दृष्टि से, माधवतीर्थ, एक प्रकार से उनके सर्वाधिक प्रमुख मार्ग-प्रदर्शक के रूप में ही उपस्थित हुए। लाहौर में रामतीर्थ से जब उनकी पहिली भेंट हुई, तो एकाएक ही जैसे वे उनकी ओर आकृष्ट हो उठे हों। पच्चीस वर्षीय इस नवयुवक में उन्हें एक अद्‌भुत प्रतिभा का संकेत मिला था। उन्हें लगा कि इसमें कोई ऐसी चीज़ है ज़रूर जो सामान्य जन के मुकाबिले कहीं ऊँची जगह पर उसे ला बिठाती है—और शायद यही कारण है कि अपने व्यस्ततम कार्य-क्रमों

के मध्य में भी वे राम को भूल न सके। लगभग प्रतिदिन ही राम को वे अपने सान्निध्य में बुलाते, और उनके साथ मानव की उच्चतर उपलब्धियों के सम्बन्ध में खुल कर चर्चा होती। उपनिषद् तथा अद्वैतवाद की अन्यान्य शाखाओं के सम्बन्ध में उन्हीं दिनों राम ने अपनी जानकारी बढ़ाई और उस पर गम्भीरतापूर्वक मनन-चिन्तन किया। फल यह हुआ कि कृष्ण के प्रति उनके प्रेम की असीमितता शीघ्र ही आत्म-साक्षात्कार की खोज के रूप में परिवर्तित हो उठी, और ऐकान्तिक शोध की प्रेरणा का प्रकाश उनके मन में जाग्रत हो उठा।

सन् १९०० के प्रारम्भ में, "अलिफ़" नामक मासिक पत्र का प्रकाशन रामतीर्थ ने जब प्रारम्भ किया, तो वे मन की इसी संक्रान्तिकालीन स्थिति से गुजर रहे थे। ओरिएन्टल कॉलेज का काम उन्होंने पहिले ही छोड़ दिया था। विवेकानन्द और माधवतीर्थ की प्रेरणा प्राप्त कर अपनी जीवनदिशा का जो लक्ष्य उन्होंने निर्धारित किया था, उसमें ऐसे किसी काम की गुंजाइश भी नहीं थी। नौकरी के प्रति वे पहिले से ही उदासीन थे। कृष्णभक्ति के जिस आवेश से उन दिनों अपने को वे आवृत्त पाते थे, उसमें अन्य किसी काम को समुचित रूप से सम्पादित कर पाना उनके लिए कठिन भी था। यह नहीं कि वैसे किसी कार्य के लिए वे अपने को असमर्थ पाते हों। छात्र समुदाय के बीच वे तब भी अत्यधिक लोकप्रिय थे, और यह होते हुए भी कि शिक्षण की दिशा में वे अपना अधिक समय नहीं दे पाते थे, उनके छात्र हमेशा ही सर्वोच्च श्रेणियों में उत्तीर्ण होते रहे। लेकिन तब भी उनके अन्तःकरण ने उन्हें इस बात की अनुमति न दी कि दो कार्य

वे एक साथ सम्पन्न करें, और इसी से वे अपनी उस नौकरी को छोड़ने के लिए बाध्य हो गए। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि जीवन के जिस मार्ग को उन्होंने ग्रहण किया था, उसमें इस प्रकार के किसी कार्य की अपेक्षा भी नहीं थी। उन्हें तो अब चाहिए थी अवकाश की अनन्तता, और स्वच्छन्द वातावरण का बहुल सृजन। उसकी प्राप्ति उन्हें नौकरी छोड़ने के बाद ही सम्भव हो सकती थी।

रामतीर्थ के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन भी इसी काल में हुआ। शिक्षण कार्य से मुक्ति पाने के बाद तत्क्षण ही वे कश्मीर यात्रा पर निकल गए थे, और संन्यास से पूर्व लिखी गयी उनकी अधिकांश कविताएं उसी सुरम्य घाटी के रमणीय वातावरण की देन हैं। भक्ति और विवेक के सामञ्जस्य ने उन दिनों उनमें एक ऐसी तारतम्यता स्थापित कर दी थी कि जो कुछ भी उनकी कलम के माध्यम से निकला, वही साहित्य का रूप ग्रहण कर गया। उनके यात्रा सम्बन्धी संस्मरण उनके अन्तर्मन की तत्कालीन रूपरेखा का ही सम्यक् दिग्दर्शन नहीं कराते, साहित्यिक मापदण्ड के अनुसार भी उनमें एक अद्भुत कृतित्व है। प्रकृति का अप्रतिम विलास उसमें क्रीड़ा करता है, युग के वैभव चिह्न वनराजि के मनहर दृश्यों के साथ जैसे अपने को एकाकार कर गए हों। काश्मीर प्रवास-काल के मध्य रचित उनके समग्र साहित्य में एक गहरी आत्म-अनुभूति के साथ गहरा चिन्तन हमें मिलता है, और "अलिफ़" उस चिन्तन की अग्रभूमिका बन कर ही सम्भवतः हमारे सामने आया।

लेकिन "अलिफ़" भी, अधिक दिनों तक, रामतीर्थ को अपने से सम्बद्ध नहीं रख सका। उनके इस कार्य में भी उनका

कवि व्यक्तित्व ही सर्वाधिक बाधक था, और इसी वजह से, शायद, रामतीर्थ उसकी प्रकाशनव्यवस्था नियमित रूप से सम्पादित करने में समर्थ नहीं हो पाए। उसका प्रथम अंक ही निकला था कि रामतीर्थ की यायावर वृत्ति फिर से जाग उठी और एक दिन लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि कराची के समुद्रतट पर बैठ कर, सागरसौन्दर्य के सम्बन्ध में, वे काव्यरचना कर रहे हैं। आन्तरिक मस्ती के प्रस्फुरण की यह सीमा थी। अपनी काश्मीर यात्रा उन्होंने सिर्फ एक धोती के साथ की थी, और इस यात्रा में तो पैसों को भी उन्होंने हाथ नहीं लगाया। कागज-कलम के अतिरिक्त कोई भी वस्तु इस बार वे अपने साथ नहीं ले गए थे, लेकिन उसके माध्यम से ही वे जिस अकल्पनीय आनन्द के संकलन में समर्थ रह सके, वह क्या कोई छोटी उपलब्धि है ?

इस प्रकार, "अलिफ़" का तीसरा अंक प्रकाशित होते होते, उनका अन्तःकरण काव्यगत मस्ती से इतना अधिक प्रवाहित हो चला था कि उन्होंने अन्तिम रूप से लाहौर छोड़ना निश्चित कर लिया, और एक दिन घर बार से मुक्ति ले वे सचमुच उत्तराखण्ड के लिए निकल पड़े। "अलिफ़" के बाद के अंकों में, जो राम के चले जाने के बाद भी कुछ दिनों तक प्रकाशित होता रहा, उनकी इस यात्रा का सम्यक् वर्णन है। "वनवास" शीर्षक से राम ने उसमें स्वयं भी कुछ बहुत ही अच्छी चीज़ें लिखीं, और तत्कालीन समीक्षकों ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की।

उत्तराखण्ड की इस यात्रा में उनकी पत्नी उनके साथ ही गयी थीं। पत्नी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी उनके सहयात्री थे, जिनमें श्री नारायण स्वामी का नाम उल्लेखनीय

है। नारायण स्वामी, जो उन दिनों मात्र नारायण दास थे, बाद में राम के शिष्य बने और मृत्यु के उपरान्त राम साहित्य के समुचित प्रसार तथा प्रकाशन में उन्हीं का सबसे बड़ा योगदान रहा है। रामतीर्थ प्रतिष्ठान के रूप में उनके साहित्य की प्रकाशन संस्था भारतीय जन को नारायण स्वामी की ही देन है, और उसके माध्यम से जिस अध्यवसाय एवं लगन के साथ उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु के सन्देश का विस्तार एवं प्रतिपादन किया, उसकी तुलना रामकृष्ण के प्रति विवेकानन्द की भक्तिभावना से ही की जा सकती है।

रामतीर्थ का यह दल लाहौर से सीधे हरद्वार पहुँचा, और वहाँ से बद्रीनाथ जाने की योजना बनी। लेकिन देव-प्रयाग पहुँचने पर, यात्री दलों की अधिकता देखकर, कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन अपेक्षित हो गया, और बद्रीनाथ जाने के स्थान पर वे लोग गंगोत्री की राह पर चल पड़े। प्रोग्राम की यह अदलाबदली राम की इच्छा के अनुकूल ही थी। गंगा के प्रति प्रारम्भ से ही उन्हें एक अकथनीय लगाव रहा था, और उसके उद्‌गम तक चलने की बात जब सम्मुख आई, तब तो वे जैसे उछल ही पड़े। मार्ग में टिहरी नगर पड़ता है। उत्तर प्रदेश का यह प्रसिद्ध रजवाड़ा ठीक गंगा किनारे अवस्थित होने के कारण उन दिनों अपने सौन्दर्य में अद्वितीय था, और राम को वह जगह भा गयी। गंगा के रूप में जैसे उन्हें अपनी जननी ही मिल गयी हो—बचपन की खोयी जननी, जिसका अभाव उन्हें कभी मन की शान्ति नहीं दे पाता था और तभी उन्हें लगा कि मां की गोद में रहकर वैयक्तिक धन सम्पत्ति की अपेक्षा भी क्या—वह तो स्वयं ही अपने बच्चों की देखभाल करने के लिये पर्याप्त है। फलस्वरूप वहाँ पहुँचने के दूसरे ही

दिन उन्होंने अपनी सारी जमा पूंजी गंगा की गोद में प्रवाहित कर दी, और स्वयं ईश्वरेच्छा के अधीन होकर आनन्दमग्न हो गये।

राम के आगामी जीवन की यह पूर्व पीठिका ही थी। कुछ ही दिनों बाद, एकाएक, बिना किसी को कुछ बताये, वे गंगोत्री की ओर अकेले ही निकल पड़े, और उत्तरकाशी तक नंगे पैर नंगे सिर, बिना कुछ खाये पिये, चलते गये। अपनी इस यात्रा का वर्णन भी, बहुत मनहर ढंग से, उन्होंने अपने एक कवित्वमय लेख में किया है। इधर, उनकी पत्नी को जब राम के इस तरह अचानक लापता होने की सूचना मिली, तो वे भविष्य की किसी अव्यक्त आशंका से अकस्मात् अस्वस्थ हो उठीं। पति का विछोह उन्हें किसी भी अवस्था में सहन नहीं हो सकता था, और यह तो एक ऐसा संयोग था जिसमें पड़ कर कोई भी नारी दुःख से पागल हो सकती थी। फलस्वरूप, राम के उत्तरकाशी से वापस आ जाने के बाद भी उनकी अवस्था नहीं सुधरी, और नारायणदास के साथ राम को उन्हें घर वापस भिजवा देना पड़ा !

टिहरी में ही, गंगा के तट पर, राम लगभग छः महीनों तक रहे। इस अवधि में उन्होंने अपने अंतस् का अच्छी तरह अध्ययन-परीक्षण कर डाला, उसके खरे-खोटे की सम्यक् परख की। फिर एक दिन ऐसा भी आया जब उन्हें अनुभव होने लगा कि सांसारिकता के अन्तिम खंडहरों को भी धराध्वस्त करके पूरी तरह ईश्वर में लीन हो जाना ही उचित है, और उसी क्षण शिखा-सूत्र को गंगा में समर्पित कर, ओम् का मंगलमय उच्चारण करते हुए, वे तीर्थराम से रामतीर्थ हो गये।

राम के गृहस्थ जीवन का यह अन्तिम दिन था। बाद के पांच छः बरसों की अवधि के मध्य जिस विश्वव्यापी कीर्त्ति एवं यश का अर्जन करने में वे समर्थ रहे, वह किसी के लिये भी स्पृहणीय उपलब्धि मानी जाएगी।

जापान आदि की यात्रा

राम को प्रकृति से—पुष्पों, पल्लवों और पर्वतशृंखलाओं से; असीमित प्रेम था, और उस प्रेम में उन्होंने अपने को पूरी तरह प्रवाहित कर दिया था। हरहराती हुई पार्वत्य समीर जब उनके शरीर से स्पर्श करती थी तो उन्हें लगता था मानों मन के किन्हीं अव्यक्त कोनों को अपनी पावनता से वह धो रही हो, छलछल कलकल करती पहाड़ी नदियों के रूप में उन्हें अपनी चिर आराध्या गंगा के दर्शन होते थे। प्रकृति के प्रति अपने इसी आह्लादकारी आवेश के कारण उन्होंने हिमालय की बर्फीली कंदराओं की पूरी परिक्रमा कर डाली, बन्दरपूंछ और गंगा के हिमस्रोतों की अछूती उंचाइयों को नापने में समर्थ रहे और पिघलते हिमखण्डों से आप्लावित उस मार्ग के मध्य यमुनोत्री से गंगोत्री की यात्रा पूरी की जिस पर बड़े बड़े पर्वतारोही भी चलने से कतरा जाएं। नंगे सिर और नंगे पैर, आवरण के रूप में मात्र एक झीनी धोती, काग़ज क़लम के अतिरिक्त पास में न पैसे न पैसाजनित अन्य उपभोग्य वस्तुएं! सचमुच ही यह उनकी एक ऐसी अनोखी यात्रा थी कि व्यावसायिक यात्रादर्शक भी जिसकी गाथा मात्र से

रोमांचित हो उठे, वह उसे पूरी तरह आश्चर्यचकित कर डाले। गंगोत्री और यमुनोत्री, बदरी और केदार, त्रियुगी और सुमेरु—इन सब पर्वतमालाओं की यात्राएं उन्होंने अपने टिहरी निवासकाल में ही कीं और जहां कहीं भी गये, मस्ती भरी कविताओं के रूप में मानो वहां की सारी जमापूंजी ही बटोरते लाये। आकाश के चंदोबे में बैठकर उन्हें अपनी साहित्यसाधना भली लगती थी। उस समय जैसे वे भूल जाते थे कि मिट्टीमलबे से भरी इस धरा में आन्तरिक आह्लाद के अतिरिक्त भी कोई आनन्द है और ब्रह्म से एकाकार होने में कोई अनोखी अनुभूति है !

अत्यधिक सर्दी हो जाने के कारण, १९०१ के अन्त में, जब वे मैदानों की ओर वापस लौटे, तब भी इसी मस्ती से उनका अन्तर तथा बाह्य आपूरित हो रहा था। दिसम्बर मास में, मथुरा में, उन्होंने एक सर्वधर्मसम्मेलन की अध्यक्षता की। शिवगुणाचार्य नामक एक संन्यासी साधु ने इसका आयोजन किया था। सम्मेलन की औपचारिक बैठकों के बाद, एक रात यमुना की रजत रेत को अपने बैठने की चादर बना कर राम ने जब एक ओजस्वी व्याख्यान दिया, तो श्रोता जैसे उनके मतवाले बन उठे। संन्यास जीवन ग्रहण करने के बाद यह उनका पहला सार्वजनिक भाषण था। भाषण के मध्य ही, किसी आवश्यक कार्यवश, जब वे जंगलों की ओर बढ़ने लगे, तो दीवानी जनता पागलों की तरह उनके पीछे दौड़ पड़ी। मथुरावासियों के लिये यह एक अद्भुत दृश्य था, और अद्भुत समां। गोपियां भी कृष्ण के पीछे क्या इस प्रकार मतवाली हो पायी होंगी ! और, राम के वापस लौट आने पर भी, उनकी यह भावना-ग्रन्थि स्थिर नहीं हुई। नदी

किनारे, ठण्डी रेत पर बैठकर आधी रात तक वे उनकी भाषण सुधा का पान करते रहे, और जब वापस लौटे तो लगा जैसे गंगा में नहा लिये हों !

इसी प्रकार, १९०२ के प्रारम्भ में, श्री शान्तिप्रकाश द्वारा फ़ैज़ाबाद में आयोजित साधारण धर्मसभा के अधिवेशन का उन्होंने सभापतित्व किया, और वहां उपस्थित प्रत्येक श्रोता पर अपनी अद्वितीयता अंकित कर आये । साधारण धर्मसभा की स्थापना देश के प्रत्येक धर्म के प्रेमियों को एक सामान्य आधारस्थल देने के उद्देश्य से हुई थी और हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख-ईसाई, सभी उसके सक्रिय कार्यकर्ता थे । नारायणदास ने भी उसी अधिवेशन में, शायद पहली ही बार, "आत्मा" के सम्बन्ध में भाषण किया था। रामतीर्थ पर उसका इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने तत्क्षण ही नारायण को अपने शिष्यत्व दान की अनुमति दे डाली, और कुछ ही दिनों बाद लखनऊ पहुँचते ही, उन्हें नारायणदास से नारायणस्वामी के रूप में परिवर्तित कर दिया ।

नारायणस्वामी के लिये प्रारम्भ में यह परिवर्तन असह्य ही साबित हुआ, क्योंकि दीक्षादान के तत्क्षण बाद ही रामतीर्थ ने उन्हें अकेले ही, भारतभ्रमण की आज्ञा दे डाली, और नारायण के अनेक प्रतिरोधों के बावजूद भी वे उनको अपने साथ रखने के लिये प्रस्तुत नहीं हुए। नारायण के लिए परीक्षा का यह एक कठिन अवसर था । राम के प्रति प्रारम्भ से ही उन्हें इतना अधिक लगाव था कि किसी भी मूल्य पर वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे—चाहे वह उनकी शिष्यत्व प्राप्ति ही क्यों न हो ! अपने आराध्यदेव से दूर रहकर स्वर्ग की कामना भी उनके लिये असहनीय थी, और इसी कारण इस आज्ञा से

उन्हें एक अप्रत्याशित मानसिक क्लेश भी हुआ। लेकिन राम के तत्सम्बन्धित आदेशों का वापस होना कठिन था और रोती आंखों के साथ उन्हें अपने गुरु से विदा लेनी ही पड़ी। गुरु-शिष्य, दोनों लखनऊ से लगभग एक साथ ही रवाना हुए—नारायण पंजाब, सिन्ध के लिये, और राम वापस उत्तराखण्ड के लिए !

उत्तराखण्ड के इस दूसरे निवास काल के मध्य ही, रामतीर्थ की भेंट, टिहरी के तत्कालीन महाराजा सर कीर्त्तिशाह से हुई, और उनका वह मिलन फिर आजीवन राम से उन्हें सम्बद्ध रखने में समर्थ रह सका। कीर्त्तिशाह ने यूरोप में शिक्षा पायी थी। मनन-चिन्तन की दिशा में भी अन्यान्य देशी नरेशों की तरह वह निष्क्रिय नहीं थे। हरबर्ट स्पेंसर के व्यापक प्रभाव ने यद्यपि किसी सीमा तक उन्हें अनीश्वरवादी बना दिया था, परन्तु तब भी धर्म के विभिन्न स्वरूपों का सम्यक् अध्ययन करने की ओर उनकी विशेष रुचि थी। इसी से, राम से जब उनकी भेंट हुई, तो उन्हें लगा जैसे मस्तिष्क में गूंजने वाली अपनी समस्त शंकाओं का एक साथ ही उन्होंने उत्तर पा लिया हो।

टिहरी से, महाराजा कीर्त्तिशाह के साथ ही, राम उनकी ग्रीष्मकालीन राजधानी प्रतापनगर चले आये, और वहां उन दोनों के बीच पर्याप्तरूप से धर्मचर्चा चलती रही। उन्हीं दिनों भारतीय पत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि अमरीका में सम्पन्न सर्वधर्म सम्मेलन के आधार पर ही—जिसमें स्वामी विवेकानन्द सम्मिलित हुए थे—जापान में भी एक सम्मेलन आयोजित हो रहा है, और उसके संयोजकों ने भारतीय प्रतिनिधियों को सामूहिक आमन्त्रण भेजा है।

कीर्त्तिशाह की कामना थी कि भारत की ओर से राम उसमें सम्मिलित हों, और तत्सम्बन्ध में राम की स्वीकृति पाते ही, टामस कुक के माध्यम से, उनकी जापान यात्रा का पूरा प्रबन्ध उन्होंने कर दिया। साथ में नारायण स्वामी के जाने की व्यवस्था भी उन्होंने की थी। प्रारम्भ में तो राम ने इस सम्बन्ध में अपनी असहमति प्रकट की, लेकिन बाद में, लखनऊ एवं अन्य स्थानों पर, लोगों ने जब इस दिशा में उनसे विशेष आग्रह-अनुरोध किया तो नारायण को अपने साथ ले चलने के लिए वे प्रस्तुत हो गए, और तार देकर उन्हें कलकत्ते बुला लिया गया।

१९०२ की २८वीं अगस्त को राम और नारायण, दोनों ने कलकत्ता छोड़ा। रास्ते में जहां कहीं भी उनका जहाज रुका, स्थानीय भारतीयों ने उल्लासपूर्ण ढंग से उनके स्वागत-समारोह आयोजित किए। हांगकांग गुरुद्वारे में गुरुभक्ति के सम्बन्ध में राम का एक भाषण भी हुआ; और सिक्ख श्रोता उसे सुन कर झूम झूम उठे। वहां से, एक अमरीकी जहाज में सवार होकर, नागासाकी के रास्ते, वे योकोहामा पहुँचे। योकोहामा, आज की तरह, उन दिनों भी जापान का प्रमुख बन्दरगाह था, और वहीं इन लोगों को उतरना था। दूसरे दिन, टोकियो पहुँचने पर, उन्होंने जब सर्व धर्म सम्मेलन के सम्बन्ध में अपेक्षित पूछताछ की, तो मालूम हुआ कि उसके सम्वाद में किंचित् भी सचाई नहीं है और न निकट भविष्य में ही वहां के लोगों द्वारा ऐसे किसी सम्मेलन की आयोजना करने का इरादा है।

सन् १८९३ के अन्त में शिकागो में आयोजित पहले सर्व धर्म सम्मेलन ने विश्व के एक अच्छे खासे वर्ग का ध्यान

अपनी ओर आकृष्ट किया था, और पूर्वी देशों के जिन व्यक्तियों को वहां प्रमुख रूप से सफलता मिली थी उनमें स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त अनागरिक धर्मपाल, कांज़ो हिराई और जेनशिरो नागूची के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें अन्तिम दो विद्वान् जापान के प्रतिनिधियों के रूप में वहां सम्मिलित हुए थे। संयोगवश उनके एक मित्र, श्री ओकाकुरा, उन्हीं दिनों भारत आये, और यहां भगिनी निवेदिता से उन्होंने जापान में एक तत्सम्बन्धित सम्मेलन आयोजित करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। जापान वापस पहुँचने के बाद शायद वे उसके सम्बन्ध में अपेक्षित तैयारी भी करते, लेकिन अभी वे कलकत्ते में ही थे कि उनके प्रस्तावित सम्मेलन की खबर भारत के समाचारपत्रों में स्थान पा गयी, और राम वहां के लिए चल भी पड़े !

जापान में राम को इस समाचार की तथ्यहीनता के सम्बन्ध में जब सूचना दी गयी, तो मस्ती के आवेश में तत्क्षण ही वे बोल उठे थे—"राम स्वयं में ही एक सम्पूर्ण सम्मेलन है। टोकियोवासियों ने यदि उसकी आयोजना नहीं की है, तो राम खुद ब खुद उसे सम्पन्न कर दिखायेगा !" फिर, जरा संयत होकर उन्होंने कहा था—"किस खूबसूरत मज़ाक के साथ प्रकृति ने राम को यहां भिजवाया है ! सम्मेलन का सम्वाद उसे यदि न मिला होता, तो हिमालय के जंगलों से बाहर निकलने की बात उसके लिए शायद मुश्किल ही थी।" समाचारपत्र की गलतियां भी किस क़दर उपजाऊ स्थल तैयार कर सकती हैं, यह घटना उसकी प्रत्यक्ष उदाहरण है !

जापान में ही सरदार पूरनसिंह की—जो बाद में अध्यापक पूरनसिंह के नाम से हिन्दी के एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हुए—

राम से पहली मुलाकात हुई, और मिलते ही जैसे वे उनमें आत्मसात् हो उठे हों। पूरन उन दिनों टोकियो विश्व-विद्यालय में रसायन विज्ञान का अध्ययन करते थे। इन्डो जापान क्लब के कार्यालय में सम्मेलन के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी संकलित करने राम जब पहुँचे, तो वहां उनकी पहिली भेंट पूरन से ही हुई। जापानस्थित भारत के नागरिकों का वह क्लब एक प्रमुख मिलनस्थल था, और पूरन उन दिनों उसके मन्त्री थे। अपनी इस भेंट का वर्णन करते हुए, पूरन ने स्वयं, "दि स्टोरी आफ़ स्वामी राम" नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है—

"अपने शिष्य, नारायण के साथ राम जब क्लब के प्रांगण में प्रविष्ट हुए, तो ओम् के आह्लादकारी स्वर के साथ वहां की भूमि का कण कण जैसे जाग्रत हो उठा हो। अपरिचित होने की अवस्था में भी उनका सान्निध्य पाते ही मैं खुशी से नाच उठा। उनकी भावशैली इतनी विचित्र और मुख मण्डल इतना तेज से उद्दीप्त था कि अपने को उनके समक्ष पूर्ण समर्पित करने के अतिरिक्त मुझे कोई बात ही नहीं सूझ पा रही थी।

"कनिष्ठ स्वामी ने जब मुझ से प्रश्न किया कि मैं किस देश का निवासी हूँ, तो आँखों में आँसू की लहरों के साथ किंचित कोमलतापूर्वक मैंने उत्तर दिया था—सारा विश्व मेरा घर है!

"इतना सुनते ही, मेरी आंखों में आंखें डालते हुए वरिष्ठ स्वामी बोल उठे थे—और सब का भला चाहना मेरा धर्म है, क्यों?

और इन दो वाक्यों के माध्यम से ही हम लोगों में पहिली भेंट-मुलाकात हुई।"

पूरनसिंह के साथ ही, जापान में, राम का अधिकांश समय व्यतीत हुआ। जापान के कार्लाइल, कांजों उचीमुरा से भी उनकी भेंट-वार्त्ता हुई, और टोकियो के राजकीय विश्वविद्यालय में दोनों ने एक साथ ही भाषण दिया। विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य और सुप्रसिद्ध प्राच्यवेत्ता, प्रोफेसर ताकाकुत्सु ने राम से मिलने के बाद स्थानीय सम्वाद-दाताओं से कहा था—मैक्समूलर के वासस्थान पर मुझे विश्व के अनेक विद्वान् दार्शनिकों के संसर्ग में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, लेकिन राम जैसा व्यक्तित्व इसके पूर्व मैंने कभी नहीं देखा। भारतीय दर्शन की जैसे वे जीवित प्रतिमूर्त्ति हों। वेदान्त और बौद्धधर्म को वे मिलनस्थली हैं। उनकी आंखों से सच्चा धर्म प्रकाशित होता है, दर्शन की लहरें उनकी वाणी में उछालें लेती हैं, और काव्य की रसमयता के वे प्रज्ज्वलित प्रतीक हैं।

टोकियो में स्थित व्यवसाय विज्ञान के प्रमुख विद्यालय में सफलता के रहस्य पर राम ने एक विस्तृत व्याख्यान दिया। मनुष्य की सफलता के मूलभूत तत्त्वों की भारतीय व्याख्या पर आधारित उनकी इस भाषणमाला का देशव्यापी स्वागत हुआ, और अनेक व्यक्तियों ने राम के दर्शनों की इच्छा व्यक्त की। इस दिशा में राम की अनुमति प्राप्त करने के लिये पूरन के नाम जिन लोगों ने आग्रहात्मक पत्र लिखे थे, उनमें टोकियोस्थित रूस के तत्कालीन राजदूत का नाम उल्लेखनीय है। संयोगवश जब वह पत्र पहुंचा तब तक राम

अमरीका के लिये प्रस्थान कर चुके थे, और इस तरह उक्त राजदूत को उनसे मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका।

टोकियो में रामतीर्थ मुश्किल से दो सप्ताह रह पाये होंगे, लेकिन इतने अल्प समय में ही जिस द्रुतगामी ख्याति का अर्जन वे कर सके, वह अपने में एक आश्चर्य की वस्तु है। जितने दिन भी वे वहां रुके, दर्शन-जिज्ञासुओं की एक अच्छी खासी भीड़ उनके समक्ष एकत्र होती रही और अपनी अमृतवाणी से उन्होंने सब को सन्तोष भी प्रदान किया। पूरन स्वयं उनके प्रेम में इतने मतवाले हो उठे थे कि अपने समस्त सांसारिक उपकरणों को त्याग कर, गैरिक वसनों में, वे राम के सम्मुख उपस्थित हो गये, और राम को उन्हें दीक्षा देनी ही पड़ी। बाद में, राम की अनुमति प्राप्त कर, यद्यपि वे पुनः गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट हो गये, लेकिन उस अल्पकाल में ही जिस गहनतम वैराग्य के वशीभूत हो राम के साथ अपने को वे सम्बद्ध कर सके थे, वह जापान में राम के अकल्पनीय प्रभाव का ही द्योतक है।

जापान की भूमि पर कुल पन्द्रह दिनों राम रहे, और फिर पूना के सुप्रसिद्ध सर्कस निर्देशक, श्री छत्रे के दल के साथ—जो उन दिनों विश्व के प्रमुख केन्द्रों में अपने प्रदर्शन कर रहा था—अमरीका के लिये रवाना हो गये। नारायण स्वामी को इस बार उन्होंने अपने साथ नहीं लिया—"एक दूसरे की सहायता-सहयोग पर आधारित होने के स्थान पर हम दोनों क्यों न भगवान् के विश्वास पर ही जिएं?" उन्होंने नारायण से कहा, और अकेले ही डालरों की दुनिया की ओर चल पड़े।

नारायण स्वामी, राम के प्रस्थान करने के बाद, कुछ दिनों तक तो जापान का ही भ्रमण करते रहे। फिर हांग-कांग, बरमा, सिंगापुर और पीनांग होते हुए श्रीलंका पहुंचे। श्रीलंका में उन्होंने लगभग तीन महीने रह कर वेदान्त का प्रसार-प्रचार किया। वहां से मध्य अफ्रीका और भूमध्यसागर के अनेक देशों की यात्रा करते हुए, १९०३ के अन्त में, वे लन्दन आए, और वहां से वापस भारत!

नारायण स्वामी के भारत पहुंचने तक, अमरीका में, राम की यशोगाथा अपनी सीमारेखा छू रही थी, और विश्व के समाचार पत्र उनसे सम्बन्धित सम्वादों की नदियां बहाते हुए नहीं थकते थे!

अमेरिका में

अमेरिकावासियों के लिये एक जीवित ईसुमसीह के रूप में राम अवतरित हुए। वहां के विश्वविद्यालय और गिरजाघरों, समाजसेवी और राजनीतिक संस्थाओं, यहां तक कि स्वरूप और सौन्दर्य के बल पर जनसमूह का हृदय विजित करने वाले अभिनेता अभिनेत्रियों के वर्ग—सब के मध्य ज्ञान का अखण्ड भंडार लेकर राम पहुँचे, और मुक्तहस्त से उसका वितरण करने में उन्होंने किंचित् भी संकोच नहीं किया। अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति, थियोडोर रूज़वेल्ट ने भी शास्ता स्प्रिंग्स स्थित उनकी कुटिया में आकर उनसे भेंट की, और भारत की तात्कालिक राजनीतिक, सामाजिक परि-

स्थितियों के सम्बन्ध में देर तक उन लोगों के मध्य विचार-विमर्श हुआ। "अमरीकावासियों के नाम भारतीयों की अपील" नामक अपनी पुस्तिका भी राम ने उस समय अमरीकी राष्ट्रपति को उपहार में दी, जिसमें भारत में स्थापित ब्रिटिश शासन की कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की गयी थी। इस प्रकार राम प्रथम भारतीय नागरिक थे जिनसे अमरीका का कोई भी राष्ट्रपति वैयक्तिक रूप से स्वयं आकर मिला हो, और राष्ट्रपति के समक्ष राम द्वारा प्रस्तुत "भारतीयों की अपील" वह पहली दस्तावेज़ जिसे किसी भारतीय ने अमरीकी राष्ट्रपति के हाथों स्वयं थमाया हो। राजनीतिक ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन दोनों घटनाओं का एक विशेष महत्त्व है और भारतीय नव जागरण के उषःकाल में देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास स्वरूप जो भी कार्य सम्पन्न हुए, उनकी प्रथम कड़ी के रूप में राम की यह शृंखलाएं निश्चित ही एक अन्यतम स्थान ग्रहण कर सकती हैं।

ध्यान से देखा जाय, तो राम का सामाजिक और राजनीतिक स्वरूप अमरीका पहुँच कर ही पूरी तरह प्रस्फुटित हुआ। भारत में रहते हुए भी उन के मन के किन्हीं अज्ञात कोनों से यद्यपि उनकी यह विशेषताएं झलकती रहती थीं, लेकिन अध्यात्म और साहित्य से तब उनका मन मस्तिष्क इस सीमा तक पूर्ण था कि दूसरी कोई भी चीजें मन की उन अभिरुचियों पर छा नहीं सकीं। अमरीका में, इसके सर्वथा विपरीत, उनके आध्यात्मिक भाषण भी पार्श्वरूप में उनकी राजनीतिक मान्यताओं के ही विकसित रूप लगते थे। इससे यह होते हुए भी कि आन्तरिक मस्ती की अविकल तरंगें उन्हें पूरी तरह से आध्यात्मिक जामा पहिना देने में समर्थ रहती थीं, देश और

समाज-सुधार के प्रति उनमें जो एक कसक थी, उस से किंचित् भी आंखें मूंदना सम्भव नहीं था।

अमरीका की समाज संस्थाओं—विशेषतया वहां के विश्वविद्यालयों में राम ने जो भाषण दिये, उनके माध्यम से उनके इसी स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दिये गये उनके भाषण का विषय था—भारत के प्रति विश्व का ऋण। विश्वविद्यालय के कुलपति ने इतिहास की एक भूली हुई शृंखला के रूप में उसका अभिनन्दन करते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि कम से कम अमरीकावासी उस ऋण से अपने को कभी मुक्त नहीं समझेंगे। कई अन्य विश्वविद्यालयों द्वारा भी राम आमन्त्रित किये गये लेकिन हर जगह उन्होंने भारतीय दर्शनदृष्टि का ही प्रतिपादन किया। उन्हें लगता था, जैसे पाश्चात्य संसार के वासी आन्तरिक आंखों से अपने व्यक्तित्व की समीक्षा करने में किंचित् भी समर्थ नहीं हो पाये हों। वेदान्त के माध्यम से उन्होंने उन कमियों की ओर वहां के लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, और भारतीय दृष्टिकोण से उनकी समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में बातचीत करते हुए उन्होंने एक बार कहा भी था—अमरीकावासी केवल बाह्य दृष्टि से ही वेदान्त-धर्म का पालन करते हैं, आन्तरिक दृष्टि से तो वे खोखले ही हैं। मानसिक और आध्यात्मिक दिशा में भी जब तक अपने को वे विकसित और परिष्कृत न करेंगे, उनकी साधन-सम्पन्नता व्यर्थ ही सिद्ध होगी।

अमरीका में दिये गये अपने प्रत्येक भाषण द्वारा उन्होंने वहां के लोगों में इसी चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। अपने अल्पतम आवासकाल के मध्य ही उन्हें इस बात

का अनुभव हो चला था कि अमरीका और चाहे जितनी ही उपलब्धियां पा लेने में समर्थ रह सका हो, अन्तर की गहराई जैसी किसी चीज़ से वहां का निवासी किंचित् भी परिचित नहीं हो पाया है—और जिसका अन्तर शिक्षित नहीं, उसकी खुशियां भी कभी स्थायी नहीं हो सकतीं। इसी से सबसे पहले राम ने वहां के आम आदमी के अन्तर को ही जगाने का भार अपने कन्धों पर उठाया।

इस दिशा में, उनकी कार्यशैली का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। कहा जाता है, एक बार उनके पास एक ऐसी महिला आयी जिसके पुत्र का कुछ ही दिनों पहले देहावसान हुआ था। मन और मस्तिष्क दोनों से ही वह विक्षिप्त हो चुकी थी; उसे देखने से लगता था मानों सारे संसार के प्रति उसे जैसे पूरी विरक्ति हो गयी हो। अपनी अन्तर्दशा की इस अवस्था में, राम के सान्निध्य से शान्ति पाने के उद्देश्य से ही, वह उनके समक्ष उपस्थित हुई थी और उसे पूरा विश्वास था कि राम उसे निश्चित ही कुछ ऐसा दे सकेंगे जिसके सहारे अपनी अन्तर्व्यथा को भुलाने में वह समर्थ हो सके।

राम ने सहानुभूतिपूर्वक उसकी सब बातें सुनीं और फिर चेहरे पर किंचित् मुस्कराहट लाते हुए उन्होंने उससे कहा—लेकिन राम तो खुशियाँ विक्रय करता है। क्या तुम उसकी कीमत दे सकोगी ?

"जो आप कहेंगे, स्वामी, सभी कुछ !"—महिला एक आन्तरिक आह्लाद से आप्लवित होते हुए कह रही थी—"बड़े से बड़ा मूल्य देकर भी प्रसन्नता खरीदने के लिये मैं तैयार हूँ। बोलिए, आप कितना पैसा चाहते हैं ?"

"लेकिन खुशियों के संसार में पैसों का रूप दूसरा होता है, बहिन ?" ज़रा रुकते हुए राम ने कहा, "और अपनी खुशियां पाने के लिये तुम्हें उन्हीं सिक्कों के रूप में उसकी कीमत चुकानी होगी। क्या उसे देने में समर्थ हो ?"

"पूरी तरह। आप आज्ञा देकर देखिए तो !"—महिला के स्वर में आतुरता थी।

राम ने, मस्ती में गम्भीरता का पुट लाते हुए, कहा—"बहुत ठीक। तुम उस नीग्रो बालक को अपने घर ले जाओ, और अपने बच्चे की तरह उसका पालन पोषण करो। तुम्हारा यही काम तुम्हारे मन को पूरो शान्ति देने में सफल हो सकेगा, और यही वह मूल्य है जिसे तुम्हें उसकी प्राप्ति के लिये चुकाना है !"

महिला अवाक् रह गयी। अपनी समस्या के इस क़दर कठोर हल की तो स्वप्न में भी उसे आशंका नहीं थी, उसे समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर वह क्या उत्तर दे। अन्त में, काफ़ी झिझकते हुए उसने राम से कहा—"यह तो बहुत ही कठिन काम है, स्वामी !"

"तो तुम्हारे लिये मन की शान्ति का प्राप्त होना भी बहुत कठिन है !" राम का तात्कालिक उत्तर था।

लेकिन, आखिर में, राम के सत्संग का प्रभाव उसके मन में उस नीग्रो बालक के प्रति प्रेम का भाव जगाने में सफल ही हुआ, और वह अपने निज के बच्चे की तरह उसका पालन-पोषण करने लगी। कुछ ही दिनों बाद उसे यह अनुभव हुआ जैसे सच ही ऐसा कर के उसके मन की अशान्ति पूरी तरह धुल चुकी है, मन गंगा के जल की भांति निर्मल हो गया है,

तब उसे राम की समस्यापूर्त्ति का रहस्य समझ में आया, और फिर वह स्वयं उसी दिशा की अनुगामिनी हो गयी।

अमरीका में व्याप्त जातीय भेदभाव के इस महारोग के प्रति ही राम ने अपना प्रतिरोध व्यक्त किया हो, ऐसी बात भी नहीं। जातिवाद के दासत्व से भारतीयों को मुक्ति दिलाने की दिशा में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रारम्भ उन्हीं के माध्यम से हुआ, और उसके कार्यनिर्धारण में उन्होंने काफ़ी रुचि भी ली। "सोसाइटी फ़ार दी इमैन्सिपेशन आफ़ इण्डिया फ्राम कास्ट स्लेवरी" नामक यह संस्था, राम की प्रेरणा पर ही स्थापित हुई थी। उसके घोषणापत्र में स्पष्टरूप से कहा गया था—"संस्था का उद्देश्य उसके नाम से ही प्रकट है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने कार्य का विस्तार चाहने वाली यह संस्था वर्गहीनता में आस्था रखती है, और उसका विश्वास है कि बीसवीं सदी के इस प्रारम्भ काल में भी ऐसे अनगिनत लोग हैं जिन्हें दासता के अन्धकारपूर्ण युग से मुक्ति नहीं मिल सकी है, और आधुनिक सभ्यता-संस्कृति के प्रकाश में भी अन्धविश्वासों का जाल उन्हें पूरी तरह अपनी परिवृत्ति में जकड़े हुए है। प्रतिभा और विवेक के क्षेत्र में जिनके पूर्वजों ने किसी काल में समस्त विश्व को आश्चर्य-चकित कर डाला था, उन्हीं लोगों को, समुचित शिक्षा के माध्यम से अपने स्वर्णिम भूत का स्मरण दिलाते हुए उस स्तर तक लाना हमारी संस्था का लक्ष्य है जिसके वे मूलतः अधिकारी हैं। ऐसा करके ही, सही रूप में, शिक्षित मनुष्यों का दायित्व निभाना हमें सम्भव हो सकता है, और उसी दिशा में हम कृतसंकल्प हैं।

"उन सब लोगों से, जिनके हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति कुछ भी दर्द है, हमारा साग्रह अनुरोध है कि इस सम्बन्ध में वे हमें अपेक्षित सहयोग और सहायता प्रदान करें। शिक्षा का प्रसार हमारा मुख्य ध्येय है, और हम समझते हैं कि अमरीका की स्वतन्त्र संस्थाओं के माध्यम से, भारतीय छात्र छात्राओं को व्यावहारिक ज्ञान का दान देकर, हम उन्हें उस वातावरण से मुक्ति दिलाने में समर्थ हो सकते हैं जिसके आज वे शिकार हैं।

"हमारी कार्यशैली बिलकुल सरल और सीधी सादी है। हम चाहते हैं कि राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र से हमें सदस्यों की प्राप्ति हो, और उनका सुगठित सहयोग हमें इस बात का बल प्रदान करे कि हम भारत के योग्यतम व्यक्तियों को छात्रवृत्ति देकर शिक्षाप्राप्ति के लिये अपने यहां आमन्त्रित कर सकें। भारतीय समाज के पुनरुत्थान में लगी अन्यान्य संस्थाओं से भी हम सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, और हमें विश्वास है कि सबका सामूहिक सहयोग हमें अपनी लक्ष्यप्राप्ति में पूरी तरह सफल कर सकेगा।"

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जातिवाद का सक्रिय विरोध करने के साथ ही शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में राम ने क्या कुछ प्रयत्न किये, और उनके यह प्रयत्न अपने मूल में कितने गहरे और ठोस थे। उन्हें इस बात का पक्का विश्वास था कि समुचित शिक्षा के माध्यम द्वारा ही भारतीय जन मानस अन्ध-विश्वासों के जाल से निकल कर सभ्य संसार की अगली पांत में अपना स्थान ग्रहण कर सकता है और शिक्षा के व्यापक प्रसार से उसकी रग रग में व्याप्त जातिभेद की समाप्ति भी सम्भव है। अमरीकी पत्रों में प्रकाशित उनके तत्कालीन

भाषणों की रिपोर्टें इस बात को पूर्णतः पुष्ट करती हैं कि भारतीय समाज में व्याप्त इस अमानवीय अन्याय के प्रति वे किस क़दर क्षुब्ध थे और उसकी समाप्ति के लिए किस संगठित रूप से अपने आन्दोलनों का उन्होंने श्रीगणेश किया। कुछ ज्यादा दिनों यदि वे वहां रहे होते, तो इन कार्यों को शायद और अधिक बल मिला होता। लेकिन उनके अन्तर में चिर प्रवहमान उनके कवि की मस्ती इस दिशा में भी उन्हें अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रख सकी और अपनी समस्त आयोजनाओं का कार्यभार अपने प्रेमी बन्धुओं के कन्धों पर डाल वे पुनः ब्रह्मलीनता में खो गए।

अपने अमरीका आवासकाल के मध्य, अधिकांश समय, राम डा० अलबर्ट हिलर के मेहमान रहे। डा० हिलर का शास्ता स्प्रिंग्स स्थित वासस्थान, सचमुच ही एक क़ल्पना लोक था। मनहर पर्वतमालाओं से घिरा, अनोखी ऐकान्तिकता से भरपूर वह स्थान राम को पहिले ही दर्शन में भा गया था और इसी से उन्होंने उसे अपनी केन्द्रभूमि बनाया। अमरीका के दूरस्थ प्रदेशों का भ्रमण करते हुए भी वे उसके सौन्दर्य को विस्मृत नहीं कर पाते थे। आकाश जैसी ऊँचाई से गिरते शास्ता के जल प्रपातों की ध्वनि उन्हें गंगा का स्मरण दिलाती थी और वहां के जंगलों की मनोरम हरियाली देखकर उन्हें सहज ही उत्तराखण्ड याद हो आता था।

डा० हिलर वृद्ध पुरुष थे। भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति उनमें कुछ लगाव था और इसी से राम का प्रथम सान्निध्य ही उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सका। अपनी वृद्धा पत्नी के साथ वे प्रायः अकेले ही वहां रहते थे। इससे राम के आने पर मानसिक रूप से ही उन्हें सन्तोष की प्राप्ति

नहीं हुई, बाह्यरूप से भी उनका आगमन उनके लिए हितकर ही सिद्ध हुआ। गृहप्रबन्ध का सारा कार्यभार तीनों व्यक्तियों के बीच बंटा हुआ था और आसपास के जंगलों से, जलाने के लिए, लकड़ियां काट कर लाने का काम राम के सिपुर्द था। राम ने, स्वयं ही, इस कठोर काम को अपने जिम्मे लिया था। "अमरीका जैसे देश में शारीरिक परिश्रम के बिना जीवन बिताना मेरी दृष्टि में पाप है", राम ने एक बार कहा था, "और इसी से यह काम मैंने छांटा है। मैं समझता हूँ, आन्तरिक रूप से भी उससे मुझे लाभ ही हुआ है!"

उनके इस अथक परिश्रम का ही शायद यह फल था कि पन्द्रह हजार फुट ऊँचे शास्ता पर्वत को, अन्यान्य अनेक अमरीकी पर्वतारोहियों के मुकाबले, सबसे जल्दी पार करने में वे सफल हो सके, हालांकि उनकी इस विजय के पारिश्रमिक स्वरूप कई हज़ार डालरों का जो प्रथम पुरस्कार उन्हें दिया गया, उसे लेने से उन्होंने साफ इनकार कर दिया। अमरीका-वासियों के लिए उनकी यह अस्वीकृति सचमुच ही एक अचम्भे की घटना थी और वहां के जिन समाचार पत्रों में इससे सम्बन्धित सम्वाद प्रकाशित हुए, उनकी प्रतियां हाथोंहाथ बिक गयीं। इस तरह, अमरीका की राष्ट्रीय खेलकूद परिषद् द्वारा आयोजित तीस मील लम्बी पैदल दौड़ में भी वे प्रथम आये थे और ऐसा कर तत्सम्बन्धित पिछला सब रिकार्ड उन्होंने तोड़ दिया था।

इस तरह, मात्र अध्यात्मवाद के क्षेत्र में ही नहीं, ऐसे क्षेत्रों में भी जिन्हें आम साधु बच्चों का खेल कह कर टाल देगा, राम अपूर्व रूप से सफल और सक्षम रहे। दैनन्दिन जीवन की रूपसज्जा के प्रति उनकी इस अदम्य आस्था ने ही

अमरीका के प्रत्येक वर्ग के लोगों के मध्य उन्हें अकल्पित रूप से लोकप्रिय बना दिया था और दिन प्रतिदिन उनकी संख्या में वृद्धि ही होती रही। कई लोग उनके पास ऐसे भी आये, जो उनसे दीक्षा ग्रहण करना चाहते थे। अपना सर्वस्व अर्पण कर उनके सान्निध्य में अपना जीवन बिताने की इच्छा रखने वाले लोगों की संख्या तो अनगिनत थी। लेकिन राम ने ऐसे किसी भी व्यक्ति की कामनापूर्त्ति नहीं की। तात्कालिक दृष्टि से उनकी यह अस्वीकृति भले ही लोगों के मध्य असन्तोष उत्पन्न करने में सफल रही हो, लेकिन ध्यान से इस बात पर जब हम विचार करते हैं तो वह राम की आन्तरिक शक्ति के रूप में ही हमारे सम्मुख प्रकट होती है। धनिक महिलाएं, सौन्दर्यमयी अभिनेत्रियां, शिक्षा और यौवन से भरपूर विश्वविद्यालय की छात्राएं—सभी तो उनके समक्ष नत थीं। लेकिन राम को उन सभी के रूप में ब्रह्म के दर्शन हुए। "जो स्वयं ब्रह्म है, उसे किसी दूसरे की अपेक्षा भी क्या ?"—वे उन लोगों से कहते थे—"अपने अन्तर में बसे चिरन्तन सत्य का दिग्दर्शन करते हुए उसी में लीन हो जाओ और वही तुम्हें मुक्ति का मार्ग दिखा सकेगा। उसकी प्राप्ति के लिए, तब, बाह्य उपकरणों की आवश्यकता ही कहां रह जाती है!"

सफलता के इन्हीं अविजित शिखरों के मध्य, लगभग दो वर्ष तक, राम अमरीका में रहे। अपनी कविता में गद्य का किंचित् समावेश हो जाने के कारण ही, इतने दिन, वे वहां स्थिर भी हो पाये थे—अन्यथा कब के वहां से आगे बढ़ गए होते। गद्य साहित्य के अनुरूप सफलता की सारी उपलब्धियां प्राप्त करने के बाद, इसी से, जैसे ही उनमें कविधर्म प्रबल

हुआ, वे वहां से चल निकले। गंगा की हर हर करती ध्वनि और चीड़, देवदारु की मदमाती हवाएं ज्यादा दिनों तक उन्हें अपने से दूर न रख सकीं और राम को यह महसूस होने लगा जैसे उनकी यादें आवाज देकर उन्हें वापस बुला रही हों।

लौटते हुए पश्चिमी समुद्र के मार्ग से राम भारत वापस आये। यूरोप महाद्वीप के किन किन देशों की उन्होंने यात्राएं कीं, क्या कुछ प्रभाव उन्होंने वहां छोड़ा—इसका कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं होता। इतना ही हमें मालूम है कि देश की धरती पर पुनः पैर रखने के पूर्व मिस्र में भी वे कुछ दिन रहे और क़ाहिरा की सबसे बड़ी मस्जिद में, शुद्ध फ़ारसी भाषा के माध्यम से, उन्होंने एक ओजभरा व्याख्यान दिया। मिस्र से प्रकाशित होने वाले उस समय के सर्वाधिकार लोकप्रिय दैनिक पत्र, "अल वहाव" ने, इस घटना का विवरण देते हुए सर्वोच्च कोटि के भारतीय दार्शनिक के रूप में राम की अभ्यर्थना की थी। "राम जैसे व्यक्ति का सान्निध्य प्राप्त करना मिस्रवासियों के लिये एक अन्यतम सौभाग्य का ही विषय है" अपने सम्पादकीय में उसने कहा था, "और इन कुछ दिनों की सतरंगी यादें एक अंकित चित्र की भांति हमारे सम्मुख सदा उपस्थित रहेंगी। हमारा सम्बन्ध अमर है!"

पोर्ट सईद से, भारत वापस आने के लिये, संयोग से राम को उसी जहाज़ में जगह दी गयी जिसमें बैठकर लार्ड कर्ज़न भारतीय वायसराय का पद ग्रहण करने यहाँ आ रहे थे। राम ने, यह मालूम होते ही, उस जहाज़ में यात्रा करने से साफ़ इन्कार कर दिया। बादशाह के रूप में अपने को सम्बोधित करने वाले व्यक्ति के लिये ऐसा करना उचित ही था। "एक

यान से दो सम्राट् यात्रा नहीं कर सकते हैं!" उन्होंने बन्दरगाह के अधिकारियों से कहा, और फिर दूसरे जहाज़ के आने तक वहीं प्रतीक्षा करते रहे।

इस प्रकार सन् १९०४ की आठवीं दिसम्बर को, पूरे ढाई बरस बाद, जब उन्होंने बम्बई के बन्दरगाह में प्रवेश किया, तो भारतभूमि एक नयी उमंग और उत्साह के साथ उनका स्वागत करने के लिये तत्पर थी!

भारत लौटने पर

लेकिन राम के प्रति उनके देश की यह उमंग और आस्था तत्कालीन ब्रिटिश शासन के लिये सिरदर्द ही साबित हुई। अमरीकी महादेश में प्राप्त उनकी लोकप्रियता से शासन के अधिकारी अनभिज्ञ न थे। स्वतन्त्र भूमि का स्वच्छन्द वातावरण दासत्व भार से दबे किसी भी भारतीय पर क्या कुछ प्रभाव डाल सकता है, यह उन्हें अच्छी तरह मालूम था, और उससे सान्निध्य स्थापित करने वाला व्यक्ति जब राम जैसा चिरमुक्त पंछी हो, तब तो शासनतन्त्र को उलटने के लिये कुछ भी करने में वह पूरी ही तरह समर्थ माना जायेगा। इसी से, बम्बई की भूमि पर पैर रखते ही गुप्तचरों की एक पूरी सेना उनके पीछे लगा दी गयी। राम इस नयी उपलब्धि से किंचित् भी चिन्तित नहीं हुए, बल्कि बम्बई से मथुरा के रास्ते, नासिक और होशंगाबाद आदि स्थानों में उन्होंने जो भाषण दिये, उनमें उनकी राजनीतिक आस्था ही मुक्तरूप से झंकृत हो रही थी।

लेकिन, अपने अन्तर में देश की भावभूमि के प्रति इतनी

तीव्र आग संचित रखने के बावजूद भी दलगत राजनीति की कलुषता राम के लिए निर्मित नहीं हुई थी। राम चाहते तो उस समय अपना एक अच्छा खासा राजनीतिक दल तैयार कर सकते थे और निश्चित ही देश के तत्कालीन वातावरण के मध्य उसे अभूतपूर्व सफलता मिलती। इस दिशा में लोगों ने प्रयत्न न किए हों, ऐसी बात भी नहीं थी। लेकिन सभी को राम का एक ही उत्तर था—"भारत में अवस्थित प्रत्येक दल राम का अपना दल है और उन सभी के माध्यम से वह अपना कार्य सम्पादित करेगा!"

राजनीतिक दलों की बात तो एक ओर, आध्यात्मिक रूप से भी अपनी विचारधाराओं को सीमाबद्ध कर कोई नया मठ या सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रस्ताव उन्होंने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। स्वामी शिवगुणाचार्य, जिनके आमन्त्रण पर राम मथुरा आये थे, इस पक्ष में थे कि अपनी राजनीतिक मान्यताओं को पीछे करके राम आध्यात्मिक रूप से किसी वर्गविशेष का नेतृत्व स्वीकार कर लें। देशी नरेशों से सान्निध्य स्थापित कर, उनके आर्थिक सहयोग के बल पर, विस्तृत रूप से एक धार्मिक मठ स्थापित करने का उनका इरादा था और उसको जीवनीशक्ति देने के लिए ही सम्भवतः उन्हें राम के नेतृत्व की अपेक्षा भी थी। लेकिन राम को इस तरह की किसी बात का प्रस्ताव भी अरुचिकर और अपमानजनक प्रतीत हुआ, उसमें सक्रिय रूप से सम्मिलित होने की तो बात ही क्या! यही नहीं, उन्होंने उसी क्षण शिवगुणाचार्य का साथ छोड़ दिया और तत्काल मथुरा से पुष्कर चले आये।

राजनीति और धर्म के नेताओं द्वारा उन्हें विचार विशेष से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों का तात्कालिक फल यह हुआ कि

इस प्रकार के प्रत्येक कार्य से उन्हें सर्वथा अरुचि हो गयी और उनके पुष्कर-निवासकाल का अधिकांश समय आत्म-चिन्तन में ही व्यतीत हुआ। यों इस काल के अन्तर्गत भी उन्होंने जितने सार्वजनिक भाषण दिये, उनके मूल में उनकी देशभक्ति ही स्पष्ट रूप से लक्षित होती रही, लेकिन अपने सीमित क्षेत्र में अपने व्यक्तित्व को उन्होंने अपने में ही केन्द्रित कर लिया था और शायद ही कोई क्षण आया हो जब उन्होंने उसे मुक्ति प्रदान की हो। राय बैजनाथ कृत सुप्रसिद्ध इतिहास समीक्षा "हिन्दुइज़्म : ऐनशिएन्ट ऐण्ड माडर्न" की भूमिका भी उन्होंने इसी काल में लिखी, जो तत्कालीन समालोचकों द्वारा अपने व्यापक दृष्टिकोण में अतुलनीय स्वीकार की गयी।

पुष्कर से उत्तराखण्ड जाने के पूर्व—जहां प्रायः जीवन के अन्त तक वे रहे, अपने कुछ महीने राम ने दार्जिलिंग में भी बिताए और वहां अबाध गति से साहित्य सृजन किया। इस काल के अन्तर्गत रचित उनके समस्त साहित्य में एक अनोखा वैयक्तिक स्पर्श है, जो अनजाने ही पढ़ने वाले के हृदय को झकझोर देता है। लगता है, जैसे खुशियों का अनन्त सागर राम की आंखों के सामने से बह रहा हो और उसके जल में सारी दुनिया के दुःखदर्द को प्रवाहित कर राम उसके प्रति अपने कर्त्तव्य की पूर्ति कर रहे हों!

दार्जिलिंग से जब वे वापस उत्तराखण्ड पहुँचे, तब भी अपने हृदय की उस मनःस्थिति से उन्हें मुक्ति नहीं मिल पायी थी। आजीवन दुःख का स्वाद चखते चखते उन्हें पूरी तरह इस बात का अनुभव हो गया था कि उसमें कितनी कड़ुवाहट, कितना कसैलापन होता है, और दुनिया का कोई भी आदमी

पुनः उसके स्वाद को चखने के लिए विवश हो, यह उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। इसी से रास्ते में लखनऊ आदि नगरों में यद्यपि वे रुके, लेकिन उनका मन क्षण भर को भी वहां रस नहीं पाया। उन्हें भय था कि अन्तर में संग्रहीत उनकी पीड़ा कहीं बिखर न जाये, आँसू की अविकल धाराएं दर्शकों को चेतनाशून्य न बना डालें। हिमालय की कंदराओं में रहकर वे इस भय से सर्वथा मुक्त थे। अन्तर के दर्द को हंसी की रिमझिम के बीच छिपाने की उन्हें वहां आवश्यकता नहीं थी, और न ही इस बात का डर कि आंसुओं से भीगा उनका हृदय सीमाएं तोड़ कर कहीं बाहर न निकल आये !

राम इस बात से पूरी तरह भिज्ञ थे और इसीलिये उन्होंने उसके प्रस्फुटन के लिये हिमालय का एकान्त चुना। उत्तराखण्ड में व्यतीत हुए उनके अन्तिम वर्ष अपनी पीड़ा के परिष्करण में ही बीते। वहीं, जीवन के आखिरी चरणों में, उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य का नियमित अध्ययन शुरू किया और कुछ ही महीनों के अन्दर उसमें पूरी पारंगतता प्राप्त कर ली। निरुक्त और वेद के सायण भाष्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया, प्रस्थानत्रयी के सारे ग्रन्थ वे आद्योपान्त पढ़ गये। संस्कृत शब्दावली के मोहक व्यक्तित्व पर वे रीझ उठे थे। वेद ग्रन्थों के रूप में उन्हें मानव की मूलभूत उपलब्धियों के दर्शन मिलते थे, उसके मन्त्रों द्वारा उनके हृदय में एक अद्भुत चेतना संचारित होती थी। जीवन के वर्षों में वृद्धि हुई होती, तो कदाचित् इस सम्बन्ध में वे कुछ शोध-कार्य भी करते। इस दिशा में वे स्वयं भी योजनाशील थे। लेकिन उनकी यह योजना कार्यरूप में कभी भी परिणत नहीं हो पायी, और मानव समाज की प्राचीनतम उपलब्धियों

को वर्तमानकालिक रूपसज्जा प्रदान करने के पूर्व ही उनको मौन हो जाना पड़ा।

जीवन के इस अन्तिम काल में राम शंकराचार्य के विवर्त्त-वादी दर्शन से पूरी तरह प्रभावित दीखते हैं और उस प्रभाव ने ही सम्भवतः उनके अन्तर के आह्लाद को पूरी तरह नष्टप्राय कर दिया। लगता था, उनकी चिरसंचित अभिला-षाओं के पर जैसे किसी ने एक-एक करके काट दिये हों और भावनाओं के सम्यक् प्रवाह की दिशा में मानों एक कठोर बांध लग गया हो। इस प्रकार की जिन निराशावादी मनःस्थितियों के मध्य उनके जीवन का अन्त हुआ, उसके सन्दर्भ में, गंगा की गोद में उनका असामयिक आत्मसमर्पण, किंचित् भी विस्मयकारी नहीं लगता।

पूरन द्वारा संन्यासधर्म का परित्याग कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की बात पर भी राम प्रसन्न ही थे। "तुमने बहुत अच्छा किया जो विवाह कर लिया!" राम ने उन्हीं दिनों उनसे कहा था, "इस जीवन में, आखिर, कुछ तो स्थायित्व है! और आत्म साक्षात्कार की दशा में भी, निश्चित ही, तुम्हारी पत्नी तुम्हारी सहायक सिद्ध होती होगी, है न?"

उसी समय, न जाने कहां कहां होता हुआ, बातचीत का क्रम उस घटना पर आकर रुक गया जब अन्तिम बार राम की पत्नी, अपने पुत्र ब्रह्मानन्द के साथ, हरद्वार में उनके दर्शनों के लिए आयी थीं। किंचित् प्रसन्नता के आवेश में अपने को लीन करते हुए, तब, राम ने कहा था—"आत्म-प्रकाश के आलोक से उस समय ब्रह्मानन्द को मां का मुख कितना देदीप्यमान हो रहा था—याद है न? एक सर्वथा परिवर्तित सौन्दर्य की प्रतिमूर्त्ति के रूप में ही उस समय वह

मेरे समक्ष उपस्थित हुई थी, लेकिन तब मैं उसे शान्ति नहीं प्रदान कर सका !"

दीपक बुझ गया

सन् १९०६ की १७वीं अक्टूबर को, जब सारा देश दीपमालिका की मंगल ज्योति से अपना बाह्य प्रकाशमान कर अन्तर के कुहासे से मुक्ति पाने के प्रयत्नों में संलग्न था, राम का जीवन दीप सर्वथा के लिये बुझ गया।

महर्षि व्यास और वसिष्ठ के आश्रमस्थलों पर कुछ महीने बिताने के बाद उन्हीं दिनों राम टिहरी वापस लौटे थे। भविष्य में शायद, स्थायी रूप से उनका वहीं रहने का इरादा भी था। शरीर और मन, दोनों से ही तब तक वे काफ़ी कमजोर हो चुके थे, और पिछले दिनों आत्मचिन्तन की जिस जलती आग के बीच से उन्हें गुज़रना पड़ा था, उसने तो एक प्रकार से उन्हें झकझोर ही डाला था। पूरन तब तक वापस जा चुके थे।

राम के सिमलासु स्थित वासस्थान से काफ़ी दूर, बमरौगी की गुफ़ाओं में, नारायण उन दिनों रहते थे। उन्हें प्रसन्नता थी कि अगली सुबह, प्रकाशन-व्यवस्था के बहाने ही सही, राम के दर्शन तो उन्हें प्राप्त होंगे। यों राम ने उन्हें सप्ताह में कुल एक बार अपने से मिलने की अनुमति प्रदान की थी—हफ्ते के शेष छः दिन उन्हें मनन-चिन्तन में ही व्यतीत करने पड़ते थे।

लेकिन उस घड़ी के आने की पूर्ववर्ती रात को ही, उनके द्वार पर बड़ी आतुरतापूर्ण दस्तक हुई। खोला तो पाया टिहरी महाराजा का वैयक्तिक अनुचर, टिमटिमाती लालटेन के साथ, सामने खड़ा था। वह कह रहा था—महाराज ने आपको स्मरण किया है। स्वामी जी गंगा की गोद में समा गये......

नारायण के लिये यह एक असम्भाव्य सम्वाद था। लगता था, जैसे किसी ने ज़ोरों से हथौड़े की चोट दी हो !

टिहरी आने पर घटना का पूरा विवरण प्राप्त हुआ। पहले की तरह उस दिन भी, वे काफ़ी दिन चढ़े सो कर उठे थे। लेख का अन्तिम पैरा बाकी था, उसे पूरा किया। फिर प्रारम्भिक नित्यकर्म में संलग्न हुए, कसरत की। पैरों में हल्की चोट लगी रहने के बावजूद भी स्नान के लिये वे गंगा में ही घुसे। नदी की धारा उस दिन काफ़ी तेज़ बह रही थी, लेकिन वे आगे ही बढ़ते जाते थे। उनके अनुचर, भोलादत्त ने—जो उन दिनों उनका भोजन बनाने का कार्य करता था—उनसे कहा भी—"महाराज, आगे मत जाइए—बड़ा भयानक बहाव है !" हर हर करती गंगा की ध्वनि को चीरती हुई धीमी सी आवाज़ सुनायी दी—"तो डरने की क्या बात ? मैं तैरना जानता हूँ !" उस समय, गिरते जलप्रपात सी तेज़ धारा के मध्य, अविचल चट्टान की तरह, वे एकाग्र खड़े थे। पाँच मिनट तक, उसी आकार में वहां खड़े वे अपने हाथ पैर धोते रहे; फिर फ़ौरन ही एक डुबकी ली। डुबकी लेने के वे बहुत शौकीन थे। जब भी स्नान के लिये वे गंगा में घुसते, दस बारह डुबकियाँ लिये बग़ैर उनको सन्तोष नहीं मिलता था।

तभी, अचानक, लगता है उनके पैरों के नीचे स्थित पत्थर का भाग एकाएक खिसक गया। उसके अलग हटते ही, राम

भी, एक झटके के साथ, अपनी जगह से दूर फिसल पड़े और उनके शरीर का सन्तुलन उनके काबू में नहीं रह गया। दिखायी पड़ा—वे गंगा की धारा के ऊपर तैरने का प्रयास कर रहे हैं। उनसे गज़ भर दूर ही एक भयानक भंवर थी। उस पर दृष्टि पड़ते ही भोलादत्त चिल्ला पड़ा, मदद की पुकार भी उसने लगानी चाही। लेकिन भंवर में फंसने के बाद भी राम कहते ही रहे—डरने की कोई बात नहीं। मैं मिनटों में निकला आता हूँ!

राम तैराक थे। भयानक से भयानक नदियों को, हंसते खेलते हुए उन्होंने पार किया था। उस दिन भी उन्होंने काफी जोर लगाया। एक बार तो लगा जैसे भंवर की सीमा उन्होंने पार कर ली हो। लेकिन मौत तो मानों उस दिन उनके साथ जीवन-मरण का खिलवाड़ करने के लिए पूरी तरह तत्पर होकर आयी थी, वह उन्हें छोड़ती भी कैसे? पूरी तरह बाहर निकलना उन्हें सम्भव भी नहीं हो पाया था कि भंवर ने एक बार फिर उन्हें अपने घेरे में ले लिया और उसके बाद फिर कभी जीवित अवस्था में वे उससे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके। उनके अन्तिम शब्द थे—"अगर तुझे इसी तरह मृत्यु को प्राप्त होना है, तो कौन रोक सकता है तुझे? जा और अपनी मां की गोद में चिर विश्राम कर!" और फिर ओम् का ओजपूर्ण उच्चारण—ओम्!—जो, लगता था, गंगा के पानी में पूरी तरह नहा कर आसपास के सारे वातावरण को अपनी चिरन्तन चेतना से गुँजायमान कर रहा हो!

ठीक उसी समय, शहर में, तोपों की सलामी दी जा रही थी। टिहरी के महाराजा लम्बी यात्रा सम्पन्न कर बहुत

दिनों बाद नगर-प्रवेश कर रहे थे। कौन जानता है कि वह सलामी महाराजा के स्वागत की प्रतीक चिह्न थी, या राम की विदा के क्षण की ! आगमन और प्रस्थान, आखिर दोनों ही वेला तो महान् व्यक्तियों के सम्मान में, तोपें छोड़ने की परम्परा है !

दूसरी सुबह, राम की मेज़ पर, कलम पेन्सिल की काली भूरी रेखाओं से अंकित उनके अन्तिम लेख का जो भाग पड़ा मिला, वह स्वयं ही उनकी मृत्यु का आह्वान पत्र था। एक अनिर्वचनीय मस्ती के आवेश में अपने को संलग्न करते हुए, कागज के उस छोटे से टुकड़े पर उन्होंने लिखा था—

"मृत्यु ! इस शरीर को नष्ट करने में अगर तू सचमुच समर्थ है, तो उसमें विलम्ब क्यों ? चाँद की किरणों से प्रवाहित इन रुपहले तारों का सौन्दर्य क्या तुझे जिन्दा रखने के लिए पर्याप्त नहीं ?—आत्मा के अमर स्वर क्या मुझे इस बात का बल नहीं प्रदान करते कि उसके साधक के रूप में मैं सदा नाचता गाता रहूँ ? पहाड़ी झरनों की कलकल मुझे अमरत्व प्रदान करती है, हिमशृङ्गों से गिरती मोहक नदियों के स्वर में मुझे अपने अन्तर के उछाह का दर्शन मिलता है। सागर की उत्ताल तरंगों के साथ मैं नृत्य कर सकता हूँ, मस्ती से छलकती हवा मुझे अपने साथ विश्व की परिक्रमा कराती है। स्वर, स्वरूप और सौन्दर्य से संलग्न यह सारी आकृतियां मेरी अपनी ही आकृतियां हैं—उनके रूप में मुझे स्वयं अपनी आत्मा का सान्निध्य प्राप्त होता है। सामने के पर्वतशिखर से मैं धरती पर उतरा, मृतकों को जीवन शक्ति दी, सोतों को जगाया, सौन्दर्यपूर्ण चेहरों पर पड़े परदे हटाये और रोते हुए लोगों को हंसने की प्रेरणा दी ! गुल और बुलबुल,

दोनों ही मेरे सान्निध्य में आये और दोनों को ही मुझसे सहानुभूति मिली। इसे स्पर्श किया, उसे सान्त्वना दी, हरएक के अभिवादन स्वीकार किये और चल पड़ा—अनन्त की ओर! और लो, अब मुझे कोई भी नहीं खोज सकता—कोई नहीं........"

और जिस समय धरती का मानव माटी से बने दियों में तेल डालने का उपक्रम कर रहा था, राम की आत्मा अपने शरीर का दीपक बुझा कर सचमुच ही अनन्त में लीन हो गयी।

दिये उस रात जले, लेकिन उनमें रोशनी नहीं दिखायी दी। ओस के आंसू अपनी बूँदें टपकाते हुए उसकी बाती से जैसे कह रहे हों—अब जलने से लाभ ही क्या? दीवाली का प्रकाश तो खत्म हो चुका है!
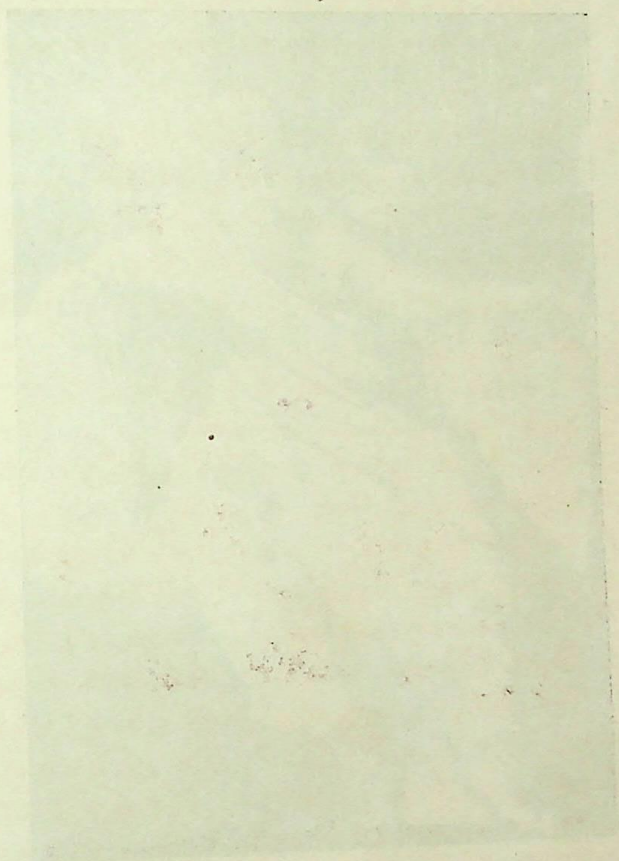
योगी अरविन्द

भावी विकास के द्रष्टा : श्री अरविंद

[१८७२—१९५० ई.]

महेन्द्र कुलश्रेष्ठ
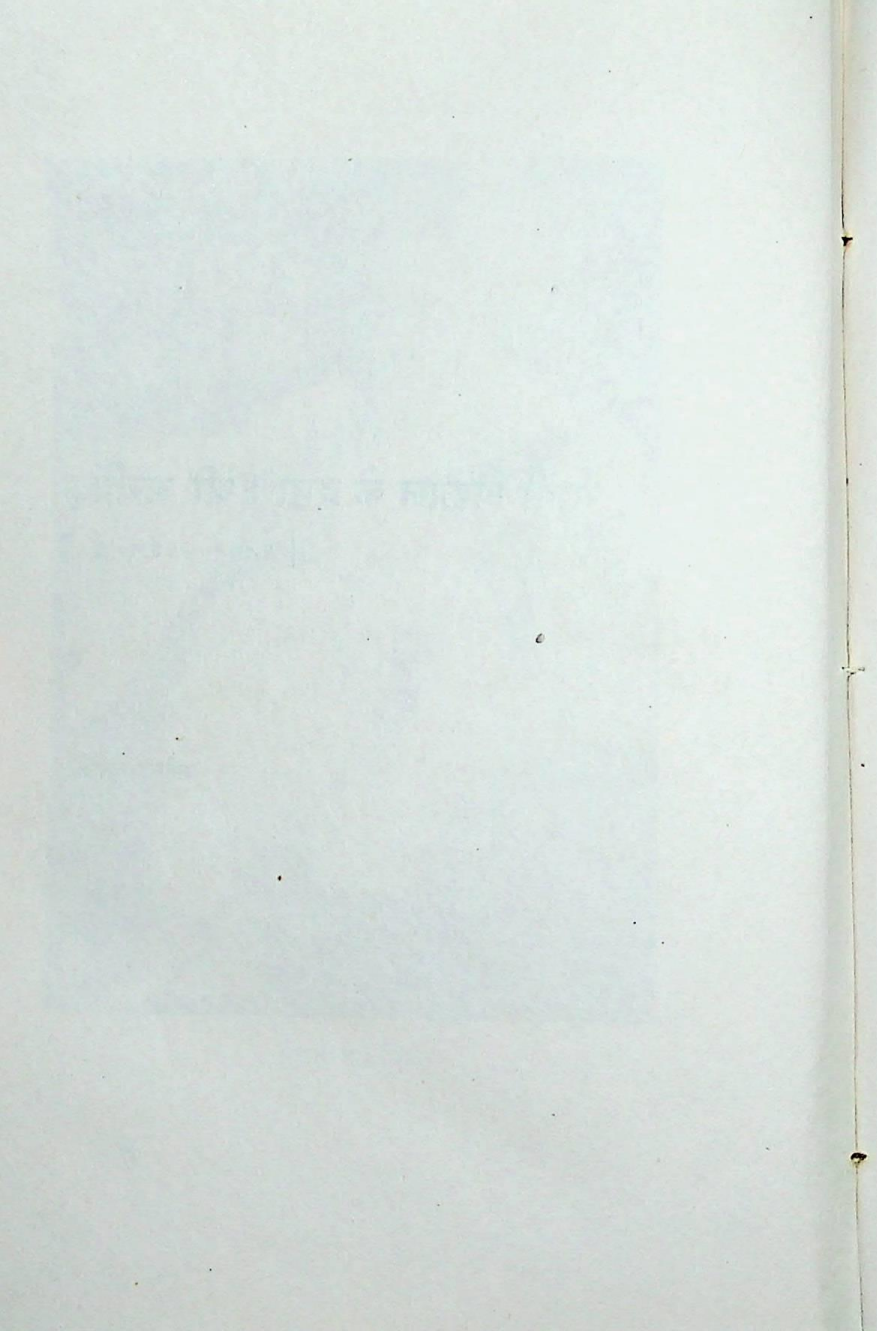
प्रवेश

सन् १९५३ का फरवरी मास । पांडिचेरी के श्रीअरविन्द आश्रम में एक प्रदर्शनी हो रही है। इसे एक अमेरिकी साधिका के मार्गदर्शन में आश्रम के स्कूल के बच्चों ने एक साल के परिश्रम से तैयार किया है। लेकिन यह प्रदर्शनी सामान्य नहीं है। इसमें कपड़ों की दुकानें नहीं हैं और न सरकारी योजनाओं की प्रगति के चार्ट हैं। इस प्रदर्शनी में इन सबसे भिन्न, इन सबसे नवीन एक ऐसी वस्तु है जिसमें संपूर्ण सृष्टि के आज तक बीते समस्त इतिहास का व्यौरेवार विवरण है और है उसके आगामी भविष्य की एक झाँकी जिस पर किसी भी विचारक, किसी भी वैज्ञानिक ने, श्रीअरविन्द को छोड़कर, आज तक कोई प्रकाश नहीं डाला।

लगभग एक घण्टे के भीतर आप समग्र सृष्टिक्रम को उसकी आदि अवस्था से उसकी आगामी अतिमानस सीमा तक, दृग्विषय के रूप में अनुभव कर लेते हैं। देखिये, यह है आदि समय की अग्नि जिसके लिये वेद के प्रथम ही मन्त्र में ऋषि ने कहा—अग्नि मीळे पुरोहितम्—अर्थात् अग्नि हमारा

नेता है, हम उसकी स्तुति करते हैं। इसके बाद धुआँ और वाष्प-ब्रह्माण्डव्यापी। फिर वनस्पति, विशाल वृक्ष और घने वन। फिर जीव, उनकी अगणित योनियाँ, योनियों के प्रकार—ऐसे प्रकार जो पहले थे, अब नहीं हैं, ऐसे भी जो अब भी हैं और बढ़ रहे हैं। इसके बाद यह देखिये, मानव। हम सबका आदि पिता, मानव। यह है वन-मानव जिसमें पशु से कम ही भिन्नता है। फिर असभ्य मानव जो अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि के जंगलों में अब भी जीवित है। फिर सभ्य मानव जो खेती कर रहा है, पशुओं को नियंत्रित कर रहा है और घर बनाकर रह रहा है। फिर आत्मजिज्ञासु मानव जो उपनिषद् के ऋषि के रूप में सृष्टि की पहेली को सुलझाने की चेष्टा कर रहा है, जो सुकरात के रूप में बड़े-बड़े जनसमूहों को शिक्षा दे रहा है, जो कन्फ्यूशियस के रूप में सफल जीवन के सिद्धान्त पत्थरों पर खोद रहा है।

विकास की यह प्रधान धारा स्पष्ट रूप से और क्रम से निरूपित है। परन्तु इसमें अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं, द्रुत गति के समय आये हैं और मंद गति के भी युग आये हैं। इसमें क्रांतिकारी रूपान्तर भी हुए हैं और पश्चाद्गामी प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हुई हैं। प्रधान धारा से अलग कुछ गौण दिशाएं भी विकास-क्रम में विद्यमान हैं। इनमें से सभी तो प्रदर्शनी में आयोजित नहीं हैं, कुछ अवश्य प्रस्तुत हैं। जैसे कीट-पतंगों आदि की अशोभनीय दिशा और पक्षी-पुष्प आदि की शोभनीय दिशा।

और हाँ, प्रदर्शनी के नितांत अन्त में यह क्या प्रदर्शित है? जहाँ आज तक का सृष्टि का समस्त इतिहास, जिसमें मानव सभ्यता की संपूर्ण प्रगति भी सम्मिलित है, समाप्त हो

जाता है, उसके पश्चात् यह क्या है ? अर्थात् भविष्य के दिवस की उषा किसकी ज्योति से प्रकाशित है ? आज और कल के उस ऐतिहासिक मिलनविन्दु पर कौन प्रतिष्ठित है ?

वहां प्रतिष्ठित है आगामी अतिमानसिक अवस्था का प्रवर्तक मानव, श्रीअरविन्द । यहाँ सुन्दर सीपी में खोदा हुआ श्रीअरविन्द का एक अद्‌भुत चित्र है जो पीछे जल रहे एक बल्ब के द्वारा आलोकित है । उसके नीचे निम्नलिखित शब्द भी इसी प्रकार आलोकित हो रहे हैं :

—अतिमानस एक सत्य है और इसका प्रादुर्भाव सृष्टि-क्रम के स्वरूप से ही अनिवार्य रूप में निश्चित है ।

दर्शकों ने इस प्रदर्शनी को बार-बार देखा और सराहा । विज्ञान के एक अध्यापक ने उसे देखकर कहा—विकास के क्रम को इस प्रकार साक्षात्-सा देखकर चित्त में कितना साहस और विश्वास भर आता है । हम अनिवार्य रूप में एक उच्चतर स्थिति की ओर प्रगति कर रहे हैं तथा एक महत्तर शक्ति इस क्रम को प्रेरित और पोषित कर रही है । इस भाव के समक्ष बाहरी दुनिया की निराशा कैसी तुच्छ और असत्य सी लगने लगती है ।

विकास क्या है ?

श्रीअरविन्द को समझने के लिए पहले इस विकासवाद को समझ लेना चाहिए । क्यों ? इसलिए कि इसी को अपने तथा सृष्टि के जीवन में फलीभूत करना उनके तपस्वी जीवन का

प्रमुख कार्य था। सन् १९१० से १९५० तक, पूरे ४० वर्ष वे पांडिचेरी के एक घर में रह कर, जो बाद में योग-साधना करने वाले सहस्रों व्यक्तियों का सुगठित और सुसंचालित आश्रम ही बन गया, इसी एक कार्य को करते रहे। इससे पूर्व के ३८ वर्ष उन्होंने शिक्षा, अध्यापन तथा राजनीतिक कार्यों में व्यतीत किये। परन्तु ये वर्ष उनके आगामी कार्य की भूमिका के रूप में ही थे क्योंकि जिस दिन ऊपर से पुकार आयी, उसी दिन वे घरबार, स्त्री, मित्र तथा यशस्वी राजनीतिक नेतृत्व भी छोड़-छाड़कर चुपचाप चन्द्रनगर होते हुए पांडिचेरी में साधना करने चले आये। भारत की स्वाधीनता का प्रश्न भी, उसमें अपना जीवन और सर्वस्व होमने की बलवती इच्छा भी इस महत्तर पुकार, इस महत्तर कार्य के समक्ष तुच्छ हो गयी।

तो क्या है यह विकास और क्या है इसके क्षेत्र में श्रीअरविन्द का योगदान ?

जैसा प्रदर्शनी के वर्णन में संकेतित है, यह समग्र सृष्टि, उसके विभिन्न रूप जिस सूत्र से परस्पर संबद्ध हैं, वह सूत्र विकास का है। मोटे तौर पर इस संसार में दिखायी देने वाले पदार्थों के तीन विभाग किये जा सकते हैं। वे हैं जड़, वनस्पति तथा पशु-पक्षी। मनुष्य पशु की ही श्रेणी में आता है। यह स्पष्ट दिखायी देता है कि पृथ्वी, पर्वत तथा समुद्र आदि जड़ पदार्थों में क्रियाशक्ति सबसे कम है—यों कहें कि है ही नहीं। वनस्पतियों में सर्वप्रथम कुछ क्रिया के दर्शन होते हैं। पेड़-पौदे बढ़ते और फलते-फूलते हैं तथा कुछ समय पश्चात् सूख कर झड़ जाते हैं। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वे खाते भी हैं और साँस भी लेते हैं। इस प्रकार उनके

शरीर में आरम्भिक दो-तीन इन्द्रियों का विकास हुआ दिखायी देता है।

अब पशु-पक्षियों को देखिये। वे वनस्पतियों के सब कर्म तो करते ही हैं, कुछ अतिरिक्त कर्म भी करते हैं। वनस्पतियाँ केवल ऊपर की ओर बढ़ती हैं, पशु-पक्षी चारों दिशाओं में इच्छानुसार चल-फिर या उड़ सकते हैं। वे सुनते और देखते भी हैं। खाने के लिए उन्हें स्वतंत्र रूप से एक इन्द्रिय प्राप्त हो गयी है। वे कुछ आवाज़ भी करते हैं और उसके द्वारा एक दूसरे की भावनाओं को एक सीमा तक समझ भी लेते हैं। इस प्रकार उनकी क्रियाशक्ति वनस्पतियों से कहीं अधिक है और इन्द्रियों की संख्या भी बढ़ गयी है।

परन्तु उनमें इन इन्द्रियों की शक्तियाँ पूर्णतः व्यक्त नहीं हुई हैं। यह सब विकास मनुष्य में ही आकर संपूर्ण होता है। मनुष्य ध्वनि मात्र नहीं करता, वह भाषा के सहारे परस्पर वार्तालाप भी करता है, किताबें भी लिखता है। वह खाकर पेट ही नहीं भरता, उनका स्वाद भी लेता है। इसलिए उसने भोज्य वस्तुओं को विभिन्न पक्वान्नों में परिवर्तित किया है। वह आँख, नाक और कान के कार्यों को भी अधिक क्षमता से संपन्न करता है। यही नहीं, इन सब क्रियाओं को ग्रहण करने तथा उन्हें स्वतएव संचालित करने के लिए उसको एक नयी ही इन्द्रिय प्राप्त हो गयी है जिसे बुद्धि कहते हैं और जो मस्तिष्क में स्थित है। बुद्धि की प्रशंसा में तो कहें ही क्या ? उसीके कारण मानव ने सभ्यताएं और संस्कृतियां निर्माण कर लीं, ज्ञान-विज्ञान विकसित कर लिए और अब वह स्पुटनिक पर बैठकर अंतरिक्ष की यात्रा करने की तैयारी कर रहा है।

आगामी दस-बीस वर्षों में वह क्या-क्या नहीं कर डालेगा, कहा नहीं जा सकता।

इस प्रकार जड़ से वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य तक एक तरह का विकास स्पष्ट दिखायी देता है। प्राचीन काल में भी विचारकों ने इसे थोड़ा-बहुत समझा था। तैत्तिरीय उपनिषद् प्राणिजगत् को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि विभागों में बांटता है। मत्स्य, कूर्म, कच्छप, वराह, वामन आदि दशावतार भी इसी क्रमिक विकास के प्रतीक हैं। सांख्यदर्शन तो विकास का पूर्णरूपेण समर्थक है ही।

यहूदियों के ग्रन्थों में कहा है—A stone becomes a plant, a plant a beast, a beast a man........ नवयुग में हरबर्ट, स्पेंसर तथा चार्ल्स डार्विन ने विकास की व्याख्या और शोध किया। अब जूलियन हक्सले ने इस दिशा में बहुत काम कर दिखाया है।

अब प्रश्न होता है कि मनुष्य की अवस्था तक का विकास तो हमने कर लिया; क्या इसके आगे भी कुछ है? या नदी की धारा का यहीं पर अन्त हो जाना है?

यह युग का प्रश्न है। आज तक इसका उत्तर किसी ने भी नहीं दिया। भावी के अतल अन्धकार को चीर कर उसके पार देखने का किसी ने भी साहस नहीं किया। हाँ, धर्म और दर्शनों ने यह अवश्य कहा कि मनुष्य-जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत करके हमें ईश्वर में मिल जाना है। कुछ ने यह भी कहा कि कर्मों के अनुसार नरक और स्वर्ग भोगना है।

श्रीअरविन्द ने इस महाप्रश्न का उत्तर दिया। उन्होंने आज तक बने समस्त दर्शनों, धर्मों तथा विज्ञानों को समेटते हुए

कहा कि सृष्टि के विकास का कारण ईश्वर है। वही समग्र जीव-जगत् के माध्यम से स्वतः को क्रमशः अभिव्यक्त कर रहा है। मनुष्य के बाद यह अभिव्यक्ति रुक जाने वाली नहीं है। अब उसे कुछ नयी इन्द्रियाँ प्राप्त होंगी। इस अवस्था को ही उन्होंने 'अतिमानस' नाम दिया। उन्होंने कहा कि यदि विकास-सिद्धान्त सत्य है तो अतिमानस का अवतरण भी सिद्ध है। इसके आगे उन्होंने कहा कि मनुष्य की अवस्था तक आने में विकास का काम प्रकृति की अपनी शक्ति से हुआ, इसलिए उसमें बहुत समय लगा। अब मनुष्य में बुद्धि प्रकट हो गयी है, इसलिए वह विकास का काम खुद ही कर सकता है, उसकी गति को बहुत कुछ बढ़ा भी सकता है। योजना और क्रिया के लिए अब वह स्वतन्त्र है, पहले के जीव और प्राणी स्वतन्त्र नहीं थे, न वे इस बात को समझते ही थे। इसलिए आइये, सृष्टि के इतिहास में प्रथम बार अब हम अपनी नौका के कर्णधार स्वयं बन जायँ।

डॉ. स्पीजेलबर्ग का कथन उनके योगदान के विषय में यह है—श्रीअरविन्द की महत्ता इस युग तक सीमित नहीं है। प्लेटो, स्पिनोज़ा, कांट और हीगेल जैसे दार्शनिकों से भी वे आगे हैं क्योंकि उनका दार्शनिक चिंतन इतना सम्पूर्ण, इतना समग्र नहीं है, उनको ऐसी गहरी दृष्टि भी प्राप्त नहीं है।

उपर्युक्त अनुभव होने के तुरंत पश्चात् श्रीअरविन्द तन-मन से इस कार्य में लग भी गये। यह एक तरह का वैज्ञानिक प्रयोग था जिसमें अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को पूर्णतः उन्नत करके उन्हें विकास का आगामी पग उठाने के लिए बाध्य कर देना था—ठीक उसी प्रकार जैसे जड़ से वनस्पति, वनस्पति से पशु या पशु से मनुष्य की अवस्था में

अतिक्रमण करने पर हुआ होगा । या जैसे खूब गरम किया जाने पर पानी से भाप बनने में और खूब ठण्डा किया जाने पर पानी से बर्फ बनने में—जब पानी की दशा सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है—होता है । स्पष्ट है कि यह प्रयोग अत्यन्त कठिन था । इसमें बहुत सँभल-सँभलकर आगे बढ़ना था । परन्तु फिर भी वे आश्चर्यजनक धीरज से इस रूपान्तर में लगे रहे और ४० वर्ष तक एक ही स्थान पर रहकर, एक विशिष्ट प्रकार के योग की सहायता से, जिसे उन्होंने 'पूर्ण योग' का नाम दिया और जो प्राचीनकाल के हठ योग, अष्टांग योग आदि से भिन्न था—बाह्य चर्मचक्षुओं से दिखायी न देने वाले इस महान् रहस्यमय कार्य को करते रहे । कालान्तर में उनके चारों ओर इसी विधि से योग-साधन करने वाले सहस्रों स्त्री-पुरुष जुड़ आये जिनका कार्य उस भूमिका का निर्माण करना था जिसमें अतिमानस अवतरित होकर अपनी क्रीडा कर सके । इनमें फ्रेंच साधिका, श्री माताजी (मीरा रिशार) का स्थान सर्वोपरि था उन्होंने श्रीअरविन्द की मुख्य सहयोगिनी का वरिष्ट स्थान पाया ।

अपने इस ४० वर्ष के महाप्रयोग में श्रीअरविन्द को अनेक उपलब्धियाँ हुईं । जीवन के सूक्ष्म तत्वों का विस्तृत ज्ञान तथा अनुभव ग्रहण कर वे भविष्य की दिशा में आगे बढ़ते रहे । श्री माताजी ने भी इस दिशा में बहुत प्रगति की । सन् १९५० में श्रीअरविन्द ने यह शरीर छोड़ा । तब अनेक व्यक्तियों ने घबराकर यह प्रश्न पूछा कि अतिमानस के अवतरण का क्या हुआ ? इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर नहीं दिया जा सका है, यह सच है । कहा गया कि श्रीअरविन्द ने शरीर इसलिए छोड़ा कि आगामी प्रयोग करने के लिए

अशरीरी होना आवश्यक था। संभवत: यह ठीक हो क्योंकि पुराने सभी रूपान्तरों में विलक्षण शरीर-परिवर्तन दिखायी देता है और चेतना के जगत् की क्रिया अशरीरी रहकर भी हो ही सकती है। तब यह भी संभव हो सकता है कि कुछ समय पश्चात् श्रीअरविन्द किसी नये प्रकार का शरीर धारण कर प्रकट हों और वे कुछ नवीन इन्द्रियों से भी सम्पन्न हों। श्रीअरविन्द के उत्तराधिकारियों ने इतने स्पष्ट रूप से तो इसी संभावना को स्वीकार नहीं किया है, परन्तु वे सन् १९६४ में किसी महत्वपूर्ण घटना की प्रतीक्षा अवश्य कर रहे हैं।

परन्तु मान लें कि श्रीअरविन्द का प्रयोग पूरी तरह सफल नहीं हो सका। शक्तिशाली अणुबम क्या एक ही वैज्ञानिक ने बना लिया होगा? यदि नहीं तो तात्कालिक रूप से ही असफल हो जाने के कारण क्या उनकी जय नहीं मानी जायगी? ऐसी दशा में यह संभव है कि दस-बीस वर्ष बाद, या सौ-पचास वर्ष बाद ही सही, कोई दूसरा महापुरुष उत्पन्न हो और वह इस सूत्र को, जहाँ से श्रीअरविन्द ने उसे छोड़ा है, पकड़कर आगे बढ़े और युग के निर्माण को पूरा कर दिखाये या इसकी पूर्ति का यश किसी तीसरे, चौथे......दसवें या सौवें व्यक्ति के ही हाथ हो। क्या इससे कोई अन्तर आता है? आज कल या परसों...... या दस-बीस वर्ष बाद, काल की इस यात्रा में कभी तो हमें इसे पा ही लेना है!

शिक्षा और राजनीति

१५ अगस्त भारतीय स्वाधीनता का पुण्य-दिवस है। इसी दिन सन् १८७२ में कलकत्ता के एक संभ्रांत बंगाली परिवार

में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता थे डॉ. कृष्णधन घोष। विनय भूषण और मनमोहन उनके बड़े भाई थे। बारीन्द्र कुमार उनके बाद उत्पन्न हुए जिन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन में अत्यधिक यश प्राप्त किया। अपने दोनों अग्रजों के साथ श्रीअरविन्द पांच वर्ष की अवस्था में दार्जिलिंग के लॉरेटो कॉन्वेन्ट स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे गये। दो वर्ष पश्चात् उन्हें इंग्लैंड भेजा गया क्योंकि उनके पिता अपने बच्चों को पूर्ण रूप से यूरोपीय शिक्षा दिलाना चाहते थे। इसी कारण श्रीअरविन्द ने बंगला भाषा भी तब सीखी जब वे बड़े होकर भारत लौट आये।

इंग्लैंड में उन्हें मान्चेस्टर के ड्रूएट परिवार में रखा गया। बड़े भाई तो स्कूल जाने लगे परन्तु श्रीअरविन्द को घर पर ही शिक्षा दी जाती रही। श्री ड्रूएट लेटिन के विद्वान् थे और उन्होंने बालक अरविन्द को लेटिन इतनी अच्छी तरह पढ़ायी कि, १३ वर्ष की अवस्था में जब वे लंदन के सेंट पॉल स्कूल में भरती किये गये, तब प्रधानाध्यापक ने स्वयं उन्हें ग्रीक पढ़ायी और अपेक्षाकृत अल्प समय में उनकी स्कूली क्षिक्षा पूर्ण करवा दी।

इसके पश्चात् एक छात्रवृत्ति लेकर वे कैम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में भरती हुए। यहाँ वे दो वर्ष रहे। इस अवधि में उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच साहित्य तथा यूरोपीय इतिहास का अध्ययन कर डाला। उन्होंने इटालियन, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाएँ भी सीखीं। अंग्रेजी में कविता लिखना उन्होंने पहले ही आरम्भ कर दिया था परन्तु यहाँ उन्होंने लेटिन तथा ग्रीक कविता के भी अनेक पुरस्कार जीते।

यहाँ ट्राइपोस के प्रथम खण्ड की परीक्षा में वे प्रथम श्रेणी

में उत्तीर्ण हुए। बी. ए. की उपाधि उन्हें प्राप्त हो सकती थी परन्तु इस ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके बाद वे इंडियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में सम्मिलित हुए। घुड़सवारी की परीक्षा में वे असफल रहे। ऐसे प्रतियोगियों को दूसरा, तीसरा अवसर भी दिया जाता था परन्तु उन्होंने उसकी परवाह ही नहीं की। इसलिए उन्हें उपाधि नहीं मिली।

लंदन में श्रीअरविन्द एक लॉज में रहे। लॉज उन परिवारों को कहते हैं जो व्यय लेकर विद्यार्थियों को रखते हैं। यह काल उनके लिए अत्यन्त कष्ट और गरीबी का था। प्राय: एक वर्ष भर उन्होंने प्रात:काल सैंडविच, रोटी और चाय तथा सायंकाल एक आने के कबाब पर ही गुजारा किया।

शिक्षा के साथ ही श्रीअरविन्द का राजनीतिक जीवन भी आरम्भ हो गया। उनके पिता उन्हें 'बंगाली' नामक अंग्रेजी का समाचार-पत्र भेजा करते थे। इसमें भारतीयों पर किये जाने वाले अंग्रेजों के दुर्व्यवहारों के समाचार छपते थे जिन पर उनके पिता निशान लगा दिया करते थे। वे अपने पत्रों में भी अंग्रेज सरकार की निन्दा लिखा करते थे। इन सबका प्रभाव श्रीअरविन्द के किशोर-मन पर जमता गया और कैम्ब्रिज में उन्होंने 'भारतीय मजलिस' नामक संस्था की सदस्यता स्वीकार कर ली। वे कुछ समय तक इसके मंत्री भी रहे। इसके मंच से वे प्राय: क्रांतिकारी भाषण दिया करते थे। ये भाषण भी उनको आई. सी. एस. से अलग कराने का कारण बने। सरकार की आँखों में वे बुरी तरह खटकने लग गए थे।

लंदन में कुछ भारतीय विद्यार्थियों ने 'कमल और कटार'

के रोमांचकारी नाम की एक संस्था स्थापित की थी। अपने भाइयों के साथ श्रीअरविन्द भी इसके सदस्य बने। इसके सदस्यों ने प्रतिज्ञा की थी कि वे भारत की स्वाधीनता के लिए अपने जीवन लगायेंगे। लेकिन इस संस्था ने कुछ विशेष कार्य नहीं किया। यह मानो मरी हुई ही उत्पन्न हुई थी। दो-चार बैठकों के बाद ही इसकी इति हो गयी।

लंदन में श्रीअरविन्द का परिचय बड़ौदा-नरेश गायकवाड़ से हो गया था। इसके फलस्वरूप २१ वर्ष की अवस्था में वे बड़ौदा आ गए जहां वे १३ वर्ष के लगभग रहे। पहले उन्होंने भूमि-व्यवस्था तथा राजस्व विभागों में कार्य किया, फिर महाराजा के सचिवालय में रहे और इसके बाद बड़ौदा कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक तथा वाइस प्रिंसिपल भी बने।

श्रीअरविन्द अपने विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय थे। श्री कन्हैयालाल या मुँशी के शब्दों में उन दिनों की झाँकी देखिये—तब मैं मैट्रिक पास करके बड़ौदा कॉलेज में भरती ही हुआ था। वहां श्रीअरविन्द का नाम और प्रताप इतना अधिक था कि मेरा मन उनके प्रति आदर से भर गया। जब वे हमें अंग्रेजी पढ़ाते थे, तब मैं आतंक से उनके शब्दों को सुना करता था। बाद में हम उनकी यौगिक साधना की कहानियाँ सुनकर स्फूर्ति ग्रहण करते रहे। उनके द्वारा सम्पादित 'वन्दे मातरम्' भी हमें वर्षों तक बहुत प्रेरणा देता रहा। सूरत कांग्रेस में, जहाँ हम लोग उग्रपंथी नेताओं के शिविर में वालन्टियर का काम करते थे, हम उनकी उपस्थिति से बहुत उत्साहित और प्रभावित होते रहे।

बड़ौदा-नरेश उनका आदर करते थे। उन्हें जब कोई विशेष वस्तु लिखानी होती, तब वे श्रीअरविन्द को बुलवा

भेजते तथा भाषण आदि तैयार करने में भी उनकी सहायता लेते थे। उनका बहुत सा व्यक्तिगत कार्य श्रीअरविन्द गैर-सरकारी रूप में करते रहते थे। एक बार महाराज उन्हें मंत्री के रूप में अपनी काश्मीर-यात्रा पर भी साथ ले गए थे।

बड़ौदा में रहते हुए श्रीअरविन्द ने राजनीति में भाग लेना आरम्भ कर दिया। वे गोखले की अपेक्षा तिलक के अधिक समीप थे। उनके विचार उग्र तथा क्रांतिकारी थे। मराठी के 'इन्दु प्रकाश' में उन्होंने एक लेख-माला आरम्भ की। परन्तु पहले दो लेखों से ही ऐसी सनसनी फैल गयी कि रानाडे आदि नरमदलीय कांग्रेसी नेता भयभीत हो उठे। रानाडे ने पत्र को चेतावनी दी कि यदि ऐसे ही लेख छपते रहे तो राजद्रोह का मुकदमा चल सकता हैं। तब सम्पादक ने श्रीअरविन्द से प्रार्थना की कि वे कुछ कम उग्र लेख लिखें। श्रीअरविन्द लिखते तो रहे परन्तु अब इसमें उनकी रुचि नहीं रही; लेख बहुत काफी अन्तर से प्रकाशित होने लगे और अन्त में बिलकुल ही बन्द हो गये।

वास्तव में उस समय भारत का वातावरण किसी भी राजनीतिक आन्दोलन के उपयुक्त नहीं था। श्रीअरविन्द ने इस तथ्य को समझा और गुप्त रूप से जनता को इसके लिए तैयार करने की योजना बनायी। उनका अनुमान था कि लगभग ३० वर्ष में, इस प्रकार आगे बढ़ते हुए, स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है।

इसके लिए कॉलेज की छुट्टियों में पहले उन्होंने स्वयं बंगाल की यात्रा की तथा मिदनापुर आदि स्थानों पर गुप्त समितियों की स्थापना की। फिर उन्होंने जतीन्द्र बनर्जी नामक एक तरुण सैनिक को अपने प्रतिनिधि के रूप में

बंगाल भेजा। विचार यह था कि सारे बंगाल में केन्द्र स्थापित किये जाएँ तथा विभिन्न आवरणों और बहानों से स्वयंसेवकों की भरती और क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया जाय।

शीघ्र ही इस योजना का फल प्रकट होने लगा। केन्द्र बनने लगे और युवकों को व्यायाम, कवायद, घुड़सवारी आदि की शिक्षा दी जाने लगी। इसी बीच श्रीअरविन्द ने पश्चिमी भारत की एक गुप्त संस्था से भी सम्बन्ध स्थापित किया तथा उसकी शपथ भी ग्रहण की। उनकी प्रेरणा पर बंगाल के उनके क्रांतिकारी मित्रों ने भी यह शपथ ली।

श्रीअरविन्द ने अहमदाबाद कांग्रेस में तिलक से भेंट की। वे तिलक को ही क्रांतिदल का संभव नेता मानते थे। वहाँ तिलक उन्हें पंडाल से बाहर ले गये और मैदान में एक घण्टे तक बातचीत करते रहे। तिलक ने अन्य नेताओं की सुधार-वादी प्रवृत्ति की आलोलना की और बताया कि महाराष्ट्र में वे किस प्रकार कार्य कर रहे हैं। इन्हीं दिनों भगिनी निवेदिता से भी श्रीअरविन्द की भेंट हुई। वे बड़ौदा व्याख्यान देने के लिए आयी थीं और श्रीअरविन्द उनको लेने स्टेशन गये थे। भगिनी निवेदिता भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में बहुत रुचि लेती थीं। बंगाल के क्रांतिकारियों को उनका सहयोग तथा शुभ कामनाएँ प्राप्त होती रहती थीं। बड़ौदा में हुआ यह परिचय तब बहुत फलदायी सिद्ध हुआ जब श्रीअरविन्द वापस बंगाल गये और उन्होंने क्रांति के संगठन में सीधे भाग लिया।

अपने अनुज बारीन्द्र कुमार को भी श्रीअरविन्द ने क्रांति में दीक्षित कर लिया था। अब उन्होंने जतीन्द्र की सहायता

करने के लिए बारीन्द्र को भी कलकत्ता भेज दिया। बारीन्द्र ने, श्रीअरविन्द की सहायता से, 'भवानी मन्दिर' नामक क्रांति की योजना बनायी और एक पुस्तक भी तैयार की। वे बाकायदा एक मन्दिर और महन्त बनाकर इसे चलाना चाहते थे। उपयुक्त स्थान की खोज में उन्होंने पर्वतों की यात्रा की परन्तु पहाड़ी ज्वर से आक्रांत हो जाने के कारण उन्हें वापस लौट आना पड़ा। तब उन्होंने मानिकतल्ला बाग में छोटे पैमाने पर ही उसे चलाने का यत्न किया। परन्तु कई कारणों से यह चल नहीं सका। साकरिया स्वामी नामक एक साधु भी इसमें बारीन्द्र की सहायता किया करते थे। वास्तव में वे बारीन्द्र के गुरु ही थे। उन्होंने सैनिक विद्रोह में भाग लिया था। सूरत कांग्रेस के भंग होने पर उनमें देशभक्ति का जोश फिर उत्पन्न हुआ। इससे एक आश्चर्यजनक घटना घटी। इसके कारण उन पर पागल कुत्ते का विष, जिसने उन्हें बहुत पूर्व काटा था और यौगिक शक्ति से जिसे वे अब तक दबाये हुए थे, फिर से चढ़ गया और उनकी मृत्यु हो गयी।

बारीन्द्र के प्रस्ताव पर श्रीअरविन्द ने 'युगान्तर' नामक एक पत्र भी आरम्भ किया। स्वामी विवेकानन्द के भाई भी इसके उप-सम्पादकों में थे। जब पत्र की तलाशी ली गयी तब उन्होंने स्वयं को सम्पादक कहकर गिरफ्तार करा दिया। मुकदमा चलने पर श्रीअरविन्द ने विदेशी अदालत में पैरवी न करने की नीति को अपनाया। इससे पत्र की प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गये।

इस समय श्रीअरविन्द बड़ौदा छोड़कर स्थायी रूप से कलकत्ता आ गये थे। यहाँ राजा सुबोधचन्द्र मल्लिक के दान से नेशनल कॉलेज की स्थापना हुई थी जिसके वे प्रिंसिपल

बने। पहले-पहल थाना में राजा साहब से उनकी भेंट हुई थी और राजा साहब ने इसी शर्त पर एक लाख रुपया दिया था कि श्रीअरविन्द कॉलेज के प्रथम प्रिंसिपल बनाये जाएँ।

सुप्रसिद्ध बंगाली नेता, विपिनचन्द्र पाल, 'वन्दे मातरम्' के नाम से एक दैनिक आरम्भ करना चाहते थे। परन्तु उनके पास केवल ५०० रुपए थे और भविष्य में सहायता का कोई आश्वासन भी नहीं था। उन्होंने इस साहसिक कार्य में सहायता देने के लिए श्रीअरविन्द से कहा और श्रीअरविन्द ने इसे तुरन्त स्वीकार भी कर लिया। उन्होंने देखा कि अब उन्हें अपने क्रांतिकार्य का प्रचार करने के लिए अच्छा अवसर मिलेगा। उन्होंने कांग्रेस के अग्रगामी दल के युवकों को नयी पार्टी के रूप में संगठित किया और उन्हें प्रेरणा की कि वे 'वन्दे मातरम्' को अपनी पार्टी का पत्र बना लें। पत्र के संचालन के लिए वन्दे मातरम् कम्पनी खोल दी गयी जिसका प्रबन्ध विपिन पाल की अनुपस्थिति में श्रीअरविन्द ही करते थे। विपिनपाल को नयी पार्टी का प्रचार करने के लिए विभिन्न स्थानों के दौरे पर भी भेजा गया। शीघ्र ही पार्टी और पत्र दोनों को अवर्णनीय सफलता प्राप्त होने लगी।

लेकिन यह सहयोग चल नहीं सका। विपिनपाल सशस्त्र क्रांति के पक्ष में नहीं थे। इसीलिए वे 'वन्दे मातरम्' से अलग हो गये। श्रीअरविन्द उन्हें अलग नहीं होने देते परन्तु वे उन दिनों भयंकर ज्वर से पीड़ित मरणासन्न अवस्था में अपने श्वसुर के घर में पड़े थे और उनकी अनुपस्थिति में ही विपिनपाल ने यह कार्यवाही कर ली। उन्होंने सम्पादक के रूप में श्रीअरविन्द का नाम भी घोषित कर दिया यद्यपि श्रीअरविन्द ने दूसरे ही दिन उसे वापस ले लिया।

श्रीअरविन्द ने खुले रूप में यह घोषित किया कि पूर्ण स्वतंत्रता ही भारत के राजनीतिक आन्दोलन का लक्ष्य है। भारत में वे ही पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सार्वजनिक रूप में यह कहने का साहस किया। नयी पार्टी ने अपने आदर्श को व्यक्त करने के लिए 'स्वराज्य' शब्द को अपनाया जो कांग्रेस द्वारा बहुत समय बाद, कराची अधिवेशन के अवसर पर, स्वीकार किया गया। इस पार्टी ने अपने कार्यक्रम के अन्तर्गत असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि को लिया। उन दिनों श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, हेमेन्द्रप्रसाद घोष और विजय चटर्जी जैसे लेखक 'वन्दे मातरम्' को प्राप्त थे जिसके कारण वह भारत में सभी स्थानों पर जाने लगा। 'स्टेट्समैन' के एक सम्पादक ने यह शिकायत की थी कि—'इस पत्र की प्रत्येक पंक्ति से स्पष्ट रूप में राजद्रोह की तीव्र गंध आती है परन्तु वह इतनी चतुराई से लिखी होती है कि कोई कानूनी कार्यवाही उस पर नहीं की जा सकती।'

फिर भी ब्रिटिश सरकार उन पर अंकुश लगाना चाहती थी। इसलिए 'युगान्तर' के लेख 'वन्दे मातरम्' में छापने का आरोप लगाकर श्रीअरविन्द को गिरफ्तार कर लिया गया। मुकदमा चलाया गया परन्तु वह आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि विपिनपाल ने गवाही देने से इनकार कर दिया। इसके लिए विपिनपाल को भी छः महीने जेल में रहना पड़ा। श्रीअरविन्द मुक्त कर दिए गए। इससे उनकी प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उनसे मिले और उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

कांग्रेस से संबंध

इस मुकदमे के बाद श्रीअरविन्द बंगाल के सर्वमान्य नेता बन गए। अब तक उन्होंने पर्दे के पीछे रहकर काम किया था, इसके पश्चात् खुले रूप में कार्य करना उनके लिए आवश्यक हो गया। अब कांग्रेस के नरम दल से बाकायदा उनका संघर्ष आरम्भ हुआ। पहला मोर्चा कलकत्ता कांग्रेस (१९०६) के अधिवेशन पर हुआ, दूसरा मिदनापुर के बंगीय कांग्रेस सम्मेलन में। तीसरा मोर्चा सुप्रसिद्ध सूरत कांग्रेस (१९०७) में हुआ जहाँ दोनों दल स्थायी रूप से अलग हो गए।

सूरत कांग्रेस का इतिहास अत्यन्त मनोरंजक है। यह पहले नागपुर में आयोजित की गयी थी परन्तु वहां मराठे उग्र-पंथियों की भरमार होने से उसे नरमदलीय गुजरातियों के नगर, सूरत में आयोजित किया गया। परन्तु वहां भी देश के सभी भागों से उग्रपंथी बहुत बड़ी संख्या में आकर एकत्र हो गए। उन्होंने श्रीअरविन्द की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा की और कुछ समय के लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया कि किस दल के लोग बहुमत में हैं। परन्तु नरम दल ने नगर से अनेक प्रतिनिधि एकत्र करके अपनी संख्या १३०० कर ली जब कि गरम दल की संख्या ११०० ही रही।

नरम दल के नेताओं ने एक ऐसा संविधान तैयार किया था जिसके पास होने पर गरम दल के लिए वर्षों तक कांग्रेस पर अधिकार करना असम्भव हो जाता। अतः वे उसे रद्द कराने पर तुल गए। उन्होंने निश्चय किया कि यदि वे ऐसा न कर सके तो कांग्रेस को ही भंग कर देंगे। तिलक तथा अन्य गरम दलीय नेताओं को इस निश्चय का पता नहीं था,

श्रीअरविन्द को था। जब तिलक सभापति पद के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखने के लिए मंच पर गए और नरम दल द्वारा निर्वाचित सभापति ने उन्हें भाषण देने की अनुमति नहीं दी तब वे अपने अधिकार पर डटे रहे और प्रस्ताव तथा भाषण पढ़ने लगे। इससे बड़ी खलबली मची और कुछ गुजराती स्वयंसेवकों ने तिलक के सिर पर कुरसियाँ मारने को उठा लीं। मराठे लाल-पीले हो गए और एक ने सभापति डॉ० रासबिहारी घोष को निशाना बनाकर जूता फेंका जो मंच को पार करता हुआ श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के कंधे पर लगा। मराठों ने एक साथ मंच पर धावा बोला, कुछ देर कुरसियों से लड़ाई हुई, फिर नरमदली भाग खड़े हुए। इसके बाद अधिवेशन हुआ ही नहीं।

तब नरम दल के नेताओं ने निश्चय किया कि कांग्रेस को स्थापित करके एक राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाय जिसकी व्यवस्था ऐसी हो कि उनके दल पर कोई आँच न आने पाये। लाला लाजपतराय ने तिलक से कहा कि यदि कांग्रेस में फूट पड़ गयी तो सरकार गरम दल को कठोर दमन से कुचल देगी। तिलक सोचते थे कि देश अभी ऐसे दमन का सामना करने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने दल को सलाह दी कि वे सम्मेलन में भाग लें और नये संविधान को स्वीकार कर लें। श्रीअरविन्द तथा अन्य कई नेता झुकने के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे कि देश को दमन का सामना करने के लिए कहा जाय। वे जानते थे कि बंगाल और महाराष्ट्र इसे अवश्य सह लेगा और इससे फिर जनता के हृदय में गहरा परिवर्तन आयेगा। यही हुआ, नरम दल का सम्मेलन भी सफल नहीं हुआ और कई वर्ष बाद तिलक के

मांडले से लौटने पर, उन्होंने भी पूर्ण स्वराज्य को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया।

सूरत कांग्रेस की ये सब घटनाएं एक बार श्रीअरविन्द ने स्वयं ही अपने साथियों को सुनायी थीं। उन्होंने यह भी कहा— बहुत कम लोग यह जानते हैं कि मैंने ही, तिलक से सलाह किये बिना आज्ञा दी थी जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस भंग हो गयी। मेरे ही कारण राष्ट्रवादियों ने नवकल्पित नरम दलीय सम्मेलन में भाग लेने से इनकार कर दिया। सूरत सम्मेलन की ये ही दो निर्णायक घटनाएं थीं।

इससे श्रीअरविन्द के विचारों तथा प्रभाव का पता चलता है। यदि वे राजनीति से संन्यास न लेते तो निश्चय ही कांग्रेस आन्दोलन की दिशा, बहुत परिवर्तित हो जाती। गोखले के प्रति उनके मन में विशेष आदर नहीं था। एक बार उन्होंने कहा था—गोखले से मेरी बातचीत बड़ौदा तथा अहमदाबाद के बीच घण्टा भर तक रेल में हुई थी। उसके बाद मेरे लिए यह संभव नहीं रहा कि मैं राजनीतिज्ञ के रूप में उनके प्रति कोई विशेष सम्मान रखूँ, मनुष्य के रूप में सम्मान रखने की बात भिन्न है।

इसके पश्चात् जो घटना हुई, उसने श्रीअरविन्द का जीवन ही बदल दिया। यह मानिकतल्ला बम केस के नाम से प्रख्यात है जिसमें खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी ने किंग्स-फोर्ड को मारने का असफल प्रयत्न किया था।

३० अप्रेल १९०८ को यह घटना हुई और २ मई को बारीन्द्र तथा श्रीअरविन्द को गिरफ्तार कर लिया गया।

इन्हीं दिनों श्रीअरविन्द 'नवशक्ति' नामक बंगाली दैनिक का कार्य अपने ऊपर लेने की तैयारी कर रहे थे। वे अपना पुराना घर छोड़कर, जहाँ वे पत्नी और बहिन के साथ रहा करते थे, पत्रिका के कार्यालय में चले आये थे। एक दिन सवेरे ही पुलिस ने आकर उन्हें हिरासत में ले लिया। तब वे सो कर जागे भी नहीं थे।

अलीपुर जेल में वे एक वर्ष के लगभग रहे। पहले कुछ समय तक उन्हें एकांत में रखा गया, फिर मुकद्दमे के अन्य कैदियों के साथ बैरक में भेज दिया गया। नरेन्द्र गोस्वामी नामक उनका एक साथी सरकारी गवाह बन गया था। दूसरे साथी कनाईलाल दत्त ने जेल में ही उसकी हत्या कर दी। तब फिर सब कैदियों को पृथक् कोठरियों में बन्द कर दिया गया। वे केवल दैनिक व्यायाम के समय या कचहरी में एकत्र होते थे परन्तु वार्तालाप नहीं कर सकते थे।

देशबन्धु चित्तरंजनदास ने अपनी भरी-पूरी वकालत को एक ओर छोड़कर तन-मन-धन से श्रीअरविन्द की पैरवी की और महीनों इसमें लगे रहे। उन्होंने अपनी पैरवी में कहा—"जब यह विवाद समाप्त हो जायगा, जब यह आन्दोलन बन्द हो जायगा और जब श्रीअरविन्द भी इस संसार में नहीं रहेंगे, तब देशभक्ति के गायक, राष्ट्रीयता के अवतार तथा मानवता के प्रेमी के रूप में उनकी पूजा की जायगी...उनके शब्द भारत ही नहीं, दूरवर्ती समुद्रों तथा भू-प्रदेशों में गूँजते रहेंगे"—अन्त में निरपराध प्रमाणित होने के कारण उन्हें मुक्त कर दिया गया।

आध्यात्मिक अनुभव

अलीपुर जेल के निवास ने श्रीअरविन्द को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। यह परिवर्तन आध्यात्मिक था और इसे समझने के लिए पहले की कुछ घटनाओं का वर्णन आवश्यक है।

श्रीअरविन्द को महायोगी कहा जाता है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि योग का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व ही उन्हें आध्यात्मिक अनुभव होने लगे थे। पहला अनुभव उन्हें तब हुआ जब वे केवल ७ वर्ष के थे। इसके बाद १३ वर्ष की अवस्था में उन्हें यह आंतरिक प्रतीति हुई कि उन्हें भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भाग लेना है। इसके बाद जब वे भारत लौटे, तब बम्बई के अपोलो बन्दर पर जहाज से उतरते ही उन्हें अपने भीतर एक गहरी शांति का अनुभव हुआ जिसने उन्हें चारों ओर से आच्छादित कर लिया। यह अनुभव कई मास तक बना रहा। फिर जब वे काश्मीर गए, तब तख्त-सुलेमान पर्वत पर घूमते हुए उन्हें शून्य अनन्त की उपलब्धि हुई। इसी तरह एक बार बड़ौदा में जब वे गाड़ी से जा रहे थे, तब एक दुर्घटना हो गयी। उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके भीतर से एक ज्योतिर्मय पुरुष ने प्रकट होकर उनकी रक्षा कर ली है।

श्रीअरविन्द ने अपना योग बिना किसी गुरु के आरम्भ किया था। इसके बाद उन्हें अपने एक मित्र, गंगामठ के स्वामी ब्रह्मानन्द के एक शिष्य से एक नियम प्राप्त हो गया। इस समय वे मुख्य रूप से प्राणायाम ही करते थे

और कभी-कभी छः या इससे भी अधिक घण्टे इसमें लगे रहते थे। फिर वे एक नागा संन्यासी से मिले जिसने पल भर में वारीन्द्र को भयंकर पहाड़ी ज्वर से मुक्त कर दिया। उसने एक गिलास में पानी भर कर, मन ही मन एक मंत्र जपते हुए, चाकू से उसे आड़े बल चीरा और फिर वारीन्द्र से उसे पी जाने को कहा। उसे पीते ही वारीन्द्र स्वस्थ हो गए। इसके बाद वे स्वामी ब्रह्मानन्द से भी मिले परन्तु उनको भी उन्होंने गुरु स्वीकार नहीं किया।

सन् १९०७ के अन्त में उनकी भेंट विष्णु भास्कर लेले नामक एक महाराष्ट्रीय योगी से हुई। यह भेंट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई और इसने उन्हें योग के मार्ग पर सुदृढ़ रूप से अवस्थित कर दिया। लेले के साथ योग करते हुए उन्हें प्रथम बार ब्रह्म का पूर्ण अनुभव हुआ। शांत ब्रह्म की यह देशकालातीत अनुभूति उन्हें अपनी चेतना को स्थायी रूप से निश्चल करने के पश्चात् उपलब्ध हुई। प्रारम्भ में उन्हें यह भी भान हुआ कि यह जगत् पूर्णतया मिथ्या है परन्तु शीघ्र ही यह भान लुप्त हो गया। श्रीअरविन्द का यह अनुभव ऐसा था कि लेले भी इसे देखकर चकित हो गये।

श्रीअरविन्द को यह स्थिति तीन दिन ध्यान करने से ही प्राप्त हो गयी। इसके बाद यह अवस्था सदा ही बना रही। उनका सब काम-काज ऊपरी धरातल पर ही चलने लगा। एक बार जब श्रीअरविन्द को भाषण देना था और उनके मन में कोई विचार ही नहीं आ रहा था, लेले ने उनसे कहा कि वे जनता को नमस्कार करके प्रतीक्षा करें, भाषण की प्रेरणा उन्हें मन से भिन्न किसी अन्य स्रोत से प्राप्त होगी। तब से ऐसा ही होने लगा और लेखन, विचार तथा अन्य बाहरी

कार्यों की प्रेरणा भी उन्हें उसी अतिरिक्त स्रोत से प्राप्त होने लगी।

अपने इस अनुभव के विषय में श्रीअरविन्द एक स्थान पर कहते हैं—मुझे एक ऐसे व्यक्ति (लेले) से मिलने को प्रेरित किया गया जो न तो प्रख्यात थे और न मैं जिन्हें जानता ही था। वे एक भक्त थे। उनका मानसिक विकास सीमित होने पर भी उन्हें कुछ अनुभूति तथा उद्बोधन-शक्ति प्राप्त थी। हम दोनों एक साथ बैठे और उन्होंने मुझे जैसा करने को कहा, मैंने पूर्ण निष्ठा के साथ वैसा ही किया। मुझे स्वयं तनिक भी समझ में नहीं आ रहा था कि वे मुझे कहां ले जा रहे हैं अथवा मैं अपने से ही किधर जा रहा हूँ। इसका प्रथम परिणाम यह हुआ कि अतीव शक्तिशाली अनुभवों का ताँता लग गया और चेतना में ऐसे आमूल परिवर्तन होने लगे जो उन्हें कभी अभिमत नहीं थे क्योंकि ये सब अद्वैत वेदान्त से सम्बन्ध रखते थे और वे इसके विरुद्ध थे। ये मेरे अपने विचारों के भी सर्वथा प्रतिकूल थे, क्योंकि इन्होंने मुझे अत्यन्त तीव्र रूप में यह दिखाया कि यह जगत् परब्रह्म की निराकार विश्वव्यापकता के ऊपर चल-चित्र के निःसार आकारों की भाँति चल रहा है। इसके बाद मेरा मन शाश्वत शांति से अनुपूरित हो गया।

लेले ने उनके जीवन में एक और परिवर्तन भी किया। वह यह कि अब वे अपने प्रत्येक कार्य के लिए भगवान् तथा उनके मार्गदर्शन पर ही निर्भर रहने लगे। लेले ने उनसे प्रश्न किया कि—'क्या आप अपने आपको अपने भीतर के मार्गदर्शक के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर सकते हैं और क्या आप उस

तरह चलने को तैयार हैं, जैसे वे आपको चलायें?' श्रीअरविन्द ने निश्चित 'हाँ' में इसका उत्तर दिया।

श्रीअरविन्द को दूसरा मुख्य अनुभव अलीपुर जेल में हुआ। यह अनुभव विश्व-चेतना का था—कि सभी प्राणी और जो कुछ भी यहां है, वह सब भगवान् ही है। जेल में वे अपना सारा समय गीता तथा उपनिषदों के स्वाध्याय और योगाभ्यास में व्यतीत करते थे। जब वे न्यायालय में मुकद्दमे के लिए जाते थे, तब भी वे ध्यान में लीन रहते थे। अन्दर से उन्हें आश्वासन मिल चुका था कि वे छूट जायेंगे। ऐसा ही हुआ और जब वे जेल से बाहर आये तब उनकी दृष्टि ही बदल चुकी थी। जेल में एक पखवाड़े तक श्रीअरविन्द को स्वामी विवेकानन्द की वाणी भी सुनायी देती रही और यह अनुभव होता रहा कि वे साथ ही हैं। इस संबंध में उन्होंने एक बार बताया—यह वाणी आध्यात्मिक अनुभव के एक विशिष्ट एवं सीमित परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर बोली और उस विषय के समाप्त होते ही बंद हो गयी।

श्रीअरविन्द जब बाहर आए, तब जनता का उत्साह ठंडा पड़ चुका था। फिर भी उन्होंने घूम-घूम कर संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया। इन्हीं दिनों में दिया गया उनका एक भाषण, जो 'उत्तरपाड़ा अभिभाषण' के नाम से प्रसिद्ध है, आगे चलकर बहुत महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक सिद्ध हुआ क्योंकि इसमें उन्होंने प्रथम बार जनता के समक्ष अपने आध्यात्मिक अनुभवों की चर्चा की थी।

अब उन्होंने 'कर्मयोगिन्' तथा 'धर्म' के नाम से अंग्रेजी

और बंगला में दो साप्ताहिक निकाले। 'वन्दे मातरम्' बन्द हो चुका था। उसे सम्मान से बन्द कराने के लिए हेमेन्द्र-प्रसाद घोष तथा विजय चटर्जी ने जान-बूझकर एक ऐसा लेख लिखा था जिससे सरकार उस पर टूट पड़े। श्रीअरविन्द के नये साप्ताहिकों ने धार्मिक रुख अपनाया जो जेल के उनके अनुभवों के पश्चात् स्वाभाविक ही था। ये पत्र बहुत ही लोकप्रिय हुए और अपना खर्च खुद ही निकालने लगे।

ब्रिटिश सरकार श्रीअरविन्द को स्थायी रूप से दबा देने का विचार कर रही थी। परन्तु वह उन्हें अण्डमान नहीं भेज सकती थी, इसलिए उसने उन्हें देश-निकाला देने का निश्चय किया। सौभाग्यवश भगिनी निवेदिता को इस बात का पता चल गया और उन्होंने श्रीअरविन्द को परामर्श दिया कि वे भारत से बाहर जाकर कार्य करें। इस पर श्रीअरविन्द ने कहा कि : "मैं 'कर्मयोगिन्' में एक खुली चिट्ठी लिखूँगा और मेरा ख्याल है कि इससे सरकार अपना विचार छोड़ देगी।" यह चिट्ठी 'मेरा अन्तिम इच्छापत्र' के नाम से प्रकाशित हुई। श्रीअरविन्द का अनुमान सच निकला। कुछ दिन बाद भगिनी निवेदिता ने ही उन्हें बताया कि उसके बाद निर्वासन की चर्चा कभी नहीं उठी।

किन्तु अब सरकार उन पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाने का अवसर खोजने लगी। यह अवसर उसे मिल भी गया क्योंकि श्रीअरविन्द ने एक बेहद गरम लेख प्रकाशित किया। एक रात 'कर्मयोगिन्' के कार्यालय में उन्हें सूचना मिली कि कल तलाशी ली जाएगी और उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाएगा। तलाशी तो ली गयी परन्तु उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया।

इसके बाद की घटना उनके अपने ही शब्दों में यों है—

जब मैं इस आसन्न घटना के संबंध में अपने आसपास के लोगों की गरमागरम टीका-टिप्पणी सुन रहा था, तब मुझे सहसा ऊपर से एक आदेश मिला जिसकी वाणी मेरे लिए खूब परिचित थी और जिसमें कुल तीन शब्द थे—Go to Chandernagor. कोई दस मिनट में ही मैं नौका पर सवार हो गया। बीरेन घोष तथा सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती चंद्रनगर तक मेरे साथ गये। मुँह-अंधेरे ही हम अपने गंतव्य स्थान पर जा पहुँचे। वे दोनों प्रातःकाल कलकत्ता लौट गए। उस समय से अपने दोनों समाचार-पत्रों के साथ मेरा किसी प्रकार का भी सक्रिय संबंध नहीं रहा। बाद में वैसी ही 'समुद्र-यात्रा' की आज्ञा के अनुसार मैं चंद्रनगर से प्रस्थान कर पांडिचेरी पहुँच गया।

४ अप्रेल १९१० को श्रीअरविन्द पांडिचेरी पहुँचे। इस दिन से उनके जीवन का नया अध्याय आरम्भ हुआ। कहते हैं, तीस वर्ष पूर्व एक तमिल योगी ने भविष्यवाणी की थी कि उत्तर से दक्षिण में एक योगी आयेंगे जो पूर्णयोग की साधना और प्रतिष्ठा करेंगे।

पांडिचेरी में योग-साधना

पांडिचेरी आकर श्रीअरविन्द ने अपने जीवन का वास्तविक कार्य आरम्भ किया। उन्होंने राजनीतिक जीवन को तिलांजलि दे दी और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में संलग्न हो गये। पुराने संबंध उन्हें अपनी ओर यदा-कदा

खींचते रहे परन्तु उन्होंने दृढ़तापूर्वक उनका निराकरण किया। उदाहरणार्थ, सन् १९३० तक उन पर सरकार की निगरानी रही क्योंकि वह यही समझती रही कि योग-साधना एक ढोंग है। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें चुपचाप उड़ा लेने का भी प्रयत्न किया, जो सफल नहीं हुआ। फिर बंगाल के गवर्नर ने उनसे कहा कि वह उन्हें योग-साधना के लिए स्थायी रूप से दार्जिलिंग में एक बंगला देने को तैयार है। उसने यह भी प्रयत्न किया कि फ्रेंच अधिकारी उन्हें पांडिचेरी से निकाल दें। इसके लिए उसने पेरिस तक जोर लगाया परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला।

श्रीअरविन्द के पुराने साथी भी उनके कार्य को नहीं समझते थे और परेशान करते थे। सन् १९१७ में लोकमान्य तिलक ने एक विशेष दूत भेजकर कहलाया कि वे कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करें। तीन वर्ष बाद डॉ. मुंजे ने स्वयं पांडिचेरी आकर उनसे यह प्रार्थना की। उस समय नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था और श्रीअरविन्द को उसका सभापति बनाने का प्रस्ताव था। फिर दो वर्ष बाद देशबंधु दास ने एक दूत भेजकर उनसे राजनीति में वापस लौट आने का आग्रह किया। इसके दूसरे वर्ष वे स्वयं राजनीतिक समस्याओं पर उनसे बातचीत करने के लिए पांडिचेरी गये। सन् १९२५ में लाला लाजपतराय और श्री पुरुषोत्तम दास टंडन उनसे मिले और अनेक प्रस्तावों पर उनका परामर्श लिया।

श्रीअरविन्द पांडिचेरी में ४० वर्ष रहे। इस बीच उन्होंने जो कार्य किया, उसे दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग उनके दर्शन से संबंधित है जिसमें उन्होंने सृष्टि, मनुष्य, ईश्वर तथा भविष्य की छान-बीन करके कुछ विचार संसार

को दिये। ये विचार मानवता की दृष्टि से बहुमूल्य हैं क्योंकि ये चिंतन और दर्शन को उनका योगदान है। उन्होंने सब वस्तु-पदार्थों को उनके समग्र रूप में देखा, उनका परस्पर संबंध स्थापित किया और बतलाया कि भविष्य में हमें किधर जाना है। इस तरह वास्तव में उन्होंने जीवन के अर्थ तथा उसकी धारा को ही प्रतिपादित किया। इस प्रतिपादन में उन्होंने अनेक प्राचीन सिद्धान्तों का खंडन किया जिनमें प्रमुख है, अद्वैत वेदान्त तथा उसका सहयोगी मायावाद। अद्वैत वेदांत को भारतीय दर्शन का शिखर माना जाता रहा है और उसकी पुष्टि वेद, उपनिषद्, गीता आदि सभी से की गयी है। इसलिए इसका खंडन भारतीय संस्कृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। अपने तत्त्वज्ञान को भी श्रीअरविन्द मूलतः भारतीय संस्कृति से ही उत्पन्न अर्थात् वेद, उपनिषद्, गीता आदि की परम्परा की ही अगली कड़ी मानते हैं।

श्रीअरविन्द के सिद्धान्त को अध्यात्म-विकास का सिद्धान्त कह सकते हैं। यदि भारत के अन्य दर्शनों से इसकी तुलना की जाय तो एक मौलिक अन्तर दिखायी देगा। वह यह कि जहाँ भारत के अन्य सभी दर्शन निराशावादी हैं, वहाँ यह दर्शन आशा से भरपूर है। अन्य दर्शन मानव-जीवन को दुःख का घर मानते हैं और उससे मुक्ति का उपाय खोजने की चेष्टा करते हैं। इसीलिए संसार को मिथ्या माना गया और उसकी माया से मुक्त होने के लिए मोक्ष या निर्वाण का मार्ग बताया गया।

ब्रह्म या ईश्वर निश्चय ही भारतीय चिंता की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी परन्तु प्रतीत होता है कि यह मार्ग से भ्रष्ट हो गयी। यह जीव और संसार को ईश्वरमय नहीं

कर सकी, जो वास्तव में इसका उद्देश्य होना चाहिए था। बौद्ध, जैन और हिन्दू सभी धर्मों ने इसको सांसारिक दुःख से भाग कर सहारा लेने के एक आश्रयस्थल के रूप में ही प्रयुक्त किया। कुछ धर्मों और सम्प्रदायों ने इसे पक्षपातपूर्ण तथा स्वर्ग या नरक में भेजने वाला बनाकर इसके साथ और भी दुर्व्यवहार किया।

श्रीअरविन्द ने ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार किया परन्तु उसका दुरुपयोग करने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हमें संसार से भागकर ईश्वर में नहीं मिलना है अपितु ईश्वर को ही अपने बीच उतार लाना है। उन्होंने कहा कि ईश्वर ही जड़, वनस्पति तथा पशु-मानव आदि में क्रमशः अभिव्यक्त हो रहा है। यह अभिव्यक्ति आगे भी बढ़ती जाएगी और उत्तरोत्तर उच्च जीवों के रूप सामने आते जायेंगे। इसके साथ-साथ जीवन का दुःख-कष्ट भी नष्ट होता जायगा। जिस प्रकार पशु वनस्पतियों से अधिक सुखी हैं, उसी प्रकार आगामी युग का मनुष्य आज के मनुष्य से अधिक सुखी तथा प्रसन्न होगा। इसलिए, उन्होंने आह्वान दिया कि आओ, हम सब मिलकर उस रूपान्तर को समय से कुछ पहले ही ले आयें।

इस दर्शन के अनुसार न तो अद्वैत सत्य है और न मायावाद। ईश्वर का जीव से संबंध विकासरूपी है, अद्वैत-रूपी नहीं, जो इस नवीन यथार्थवादी सिद्धान्त के सामने बहुत हवाई और मात्र काल्पनिक प्रतीत होता है। साथ ही, ऐसी अवस्था में यह जगत् भी न मिथ्या रह जाता है और न मायापूर्ण। वह एकदम ठोस और जीवंत दिखायी देने लगता है जिससे इनकार करना अन्धे के लिए भी संभव नहीं है।

सब मिलाकर यह सिद्धान्त बहुत आशावादी लगने लगता है और जीवन में एक अर्थ भर देता है जिसको अपनी शक्ति और योग्यतानुसार सभी प्राप्त कर सकते हैं।

इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि यह पूर्णतः वैज्ञानिक है। दर्शन और विज्ञान यदि सत्यान्वेषी हैं तो अधिक दिन तक ये दोनों अलग नहीं रह सकते थे। सत्य एक ही होना चाहिए जहां इन दोनों जिज्ञासुओं को मिल जाना है। श्रीअरविन्द ने इन दोनों को मिला दिया है या यों कहें कि उनमें ये दोनों आकर निश्चित और अन्तिम रूप से मिल गये हैं। इस संबंध में रोमां रोलां ने कहा है—'ये हैं श्रीअरविन्द जिनमें एशिया की प्रतिभा और यूरोप की प्रतिभा का पूर्ण समन्वय है·····ये हैं ऋषि-परम्परा में अन्तिम जिनके हाथ में रचनात्मक शक्ति का धनुष सुदृढ़ है, स्थिर है।' इस तरह यह संपूर्ण संसार के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना है। यहां आकर, जानने के क्षेत्र में, सृष्टि का पड़ाव आ गया है, अब उसे घटित करने और प्राप्त करने का कार्य शेष रह जाता है।

और यही है श्रीअरविन्द के कार्य का दूसरा भाग अर्थात् उसकी प्राप्ति का प्रयास। वास्तव में यह उनके कार्य के पहले भाग का स्वयंसिद्ध निष्कर्ष ही है। यहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि श्रीअरविन्द इस दूसरे कार्य को जरा भी न करते, तो भी उन्हें उनके उच्च स्थान से च्युत नहीं किया जा सकता। उन्होंने जो ज्ञान दिया, उसका विधिपूर्वक और गहरा अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति अपने जीवन में, अपनी सीमाओं के साथ, जो योगदान कर सकता है, उससे वह कई गुना अधिक है।

इसलिए उन्होंने अपने दर्शन को क्रियात्मक रूप में व्यक्त करने के लिए जो उद्योग किया, और उसमें उन्हें जितनी भी सफलता मिली, उसे उनका अतिरिक्त कार्य, उनकी अतिरिक्त कृपा ही मानना चाहिए।

तो, श्रीअरविन्द ने विकास की आगामी अवस्था को इसी शरीर में उतार लाने का प्रयत्न किया। उसे उन्होंने 'अति-मानस' नाम दिया। उन्होंने कहा कि मानस की अवस्था तक हम पहुँच चुके हैं। इससे आगे की अवस्था में सत्य स्वयं मनुष्य में अवतरित हो जायगा और अपने विविध रूपों और क्रीडाओं में अपनी अभिव्यक्ति देगा। यह तब संभव है जब व्यक्ति उस उच्च भागवत चेतना तक पहले तो स्वयं आरोहण कर जाये, फिर उसे आत्मसात् कर ले और इसके बाद उसे बुद्धि, शरीर तथा जीवन का रूपान्तर करने के लिए नीचे उतार लाये।

इसके लिए उन्होंने एक भिन्न प्रकार के योग का आश्रय लिया या यों कहें कि एक भिन्न प्रकार के योग का विकास ही कर डाला। इसे उन्होंने 'पूर्ण योग' नाम दिया। अब तक भारत में जितने प्रकार के योग विकसित किये गये वे या तो कुछ विशेष शक्तियों की सिद्धि के लिए थे या एक विशेष मानसिक अवस्था की प्राप्ति के लिए थे। इनका अनुभव उन्होंने पांडिचेरी पहुँचने से पूर्व ही कर लिया था। दूसरी बात यह कि ये योग कई कठिन शारीरिक साधनाओं के बिना आगे बढ़ ही नहीं सकते थे। इसलिए प्रायः यह होता था कि योगी इन साधनाओं को ही उद्देश्य मान लेता था और उन्हीं से घिरा रहकर जीवन बिता देता था।

श्रीअरविन्द के पूर्ण योग की पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है

कि उसका एक लक्ष्य निर्धारित हो गया। दूसरी बात यह कि उससे दुष्कर तपों को निकाल दिया गया। उतनी ही साधनाएं रखी गयीं जो शरीर को शुद्ध करके उसे इस योग्य बना दें कि अतिमानस की शक्ति का अवतरण होने पर वह उसके वेग को सम्भाल सके। अतिमानस की प्राप्ति के लिए जो शक्ति चाहिए उसका उत्पादन भी ये साधनाएं करती हैं।

वास्तव में इस योग की मुख्य क्रिया मानसिक धरातल पर होनी थी। इसलिए उसकी पहली शर्त यह निश्चित की गयी कि मनुष्य अपने को पूर्णतः भागवत शक्ति के अधीन कर दे और अपने को उसके प्रति निस्संकोच होकर खोलता चला जाय। खोलने की यह प्रक्रिया जैसे-जैसे बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अतिमानस चेतना उसके भीतर उतरती चली जायगी। इस प्रकार यह योग मुख्यतः श्रद्धा का योग है, इसमें एक सीमा के बाद बुद्धि का स्थान नितांत नष्ट हो जाता है।

पुराने योगों में संन्यास लेना भी आवश्यक माना जाता है। श्रीअरविन्द ने पूर्ण योग से यह झंझट भी हटा दी। किसी भी तरह के कपड़े पहनकर, सादा ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए, कोई भी व्यक्ति इसे कर सकता है।

पांडिचेरी आकर श्रीअरविन्द ने २१ दिन का उपवास किया और इस बात की परीक्षा की कि अलीपुर जेल में उनको अपने शरीर पर जो अधिकार प्राप्त हुआ था, वह अभी भी विद्यमान है अथवा नहीं। यह उपवास सफल रहा और उसके मध्य में भी वे पूरी शक्ति से अपने सभी दैनंदिन कार्यों को संपन्न करते रहे। पाँच वर्ष बाद इसी बात की परीक्षा करने के लिए उन्होंने अफीम का एक बहुत बड़ा गोला खा लिया।

उन्होंने देखा कि उन पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और उनका शरीर पूर्ववत् कार्य करता रहा।

माता जी के पांडिचेरी आगमन से उन्हें अपने कार्य में विशेष सुविधा हुई। माता जी एक फ्रेंच बैंकर की पुत्री हैं। वे बचपन से ही योग-साधना करती रही हैं। उन्होंने अपने चारों ओर साधकों का एक मंडल भी एकत्र कर लिया था। कहते हैं, १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी कल्पना में श्रीअरविन्द को देख लिया था। श्रीअरविन्द ने स्वयं ही एक बार यह बताया कि तब माता जी ने उन्हें कृष्ण समझा था। जो हो, वे सन् १९१४ के मार्च मास में पांडिचेरी आयीं और श्रीअरविन्द के प्रथम दर्शन में ही उन्हें लगा कि यह व्यक्ति मानवता के भविष्य का निर्माता है। उन्होंने पांडिचेरी में ही रहकर कार्य करने का निश्चय कर लिया। कहते हैं कि पहले से ही श्रीअरविन्द को माता जी के आगमन का ज्ञान था और वे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अपने साधक मित्रों से भी वे जब-तब यह बात कहते रहते थे।

माता जी एक वर्ष के लगभग पांडिचेरी में रहीं। महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण वे फ्रांस लौट गयीं। परन्तु इस बीच उन्होंने श्रीअरविन्द के साथ मिलकर अंग्रेजी और फ्रेंच में 'आर्य' और 'रव्यू द ग्रांद सैंतेज' (Review de Grande Synthese) नामक दार्शनिक पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ किया। फ्रेंच पत्रिका तो सात महीने चलकर बंद हो गयी, अंग्रेजी पत्रिका साढ़े छः वर्ष तक चलती रही। उसके पहले अंक में दो उद्देश्य घोषित किये गये थे :

(१) जीवन की उच्चतम समस्याओं का सुव्यवस्थित रूप से अध्ययन करना।

(२) एक विशाल समन्वयात्मक ज्ञान की रचना करना जिसमें प्राच्य और पाश्चात्य विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का सामंजस्य किया गया हो। इसकी पद्धति एक तरह के यथार्थवाद की पद्धति होगी, जो एक साथ ही बौद्धिक और अतिबौद्धिक होगा और जिसमें दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पद्धतियाँ संबोधिमूलक अनुभव की पद्धतियों के साथ संयुक्त होंगी।

स्पष्ट है कि श्रीअरविन्द को अपने मार्ग की दिशाओं का ज्ञान इस समय तक हो चुका था। 'आर्य' में उन्होंने जो लेख लिखे, वे ही आगे चलकर 'भागवत जीवन' (Life Divine) के नाम से दो खंडों में प्रकाशित हुए। यही ग्रंथ उनके दर्शन तथा योग की कुंजी है और विश्व के साहित्य में इसका स्थान अत्युच्च है।

सन् १९२० में माता जी फिर पांडिचेरी आ गयीं और स्थायी रूप से यहीं रहने लगीं। अब धीरे-धीरे यह स्थान एक आश्रम के रूप में विकसित हो गया। इससे पूर्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जापान में उनसे मिले थे और उन्हें अपने शांतिनिकेतन का पूरा भार सौंपने का प्रस्ताव किया था। लेकिन माता जी ने उसे स्वीकार नहीं किया।

श्रीअरविन्द ने भी माता जी को भागवत चेतना की प्रतिनिधि या अवतार के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने सभी साधकों को आदेश दिया कि माता जी के प्रति ही वे पूर्ण समर्पण करें, माता जी ही उन्हें विकास के मार्ग पर आगे ले जायेंगी। इससे साधकों को एक साकार आश्रय प्राप्त हो गया।

माता जी के विषय में श्रीअरविन्द का वक्तव्य निम्न-लिखित है—

'माता जी की चेतना भागवत चेतना है और उससे जो ज्योति आती है, वह भागवत चेतना की ज्योति है। जो व्यक्ति माता जी की ज्योति को ग्रहण करता और उसमें निवास करता है, वह मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आदि सभी स्तरों पर सत्य को देखना आरम्भ कर देता है। यही कारण है कि मैं बराबर तुम लोगों से कहता रहता हूँ कि तुम लोग श्रीमाँ के साथ और उनकी ज्योति और शक्ति के साथ संस्पर्श बनाये रखो। ऐसा करने पर ही तुम लोग इस गोल-माल और अन्धकार से बाहर निकल सकते हो और ऊपर से आने वाले सत्य को ग्रहण कर सकते हो।'

'माता जी के और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हमारा पथ एक ही है और सदा एक ही रहा है। यह वह पथ है जो अतिमानसिक परिवर्तन और दिव्य सिद्धि तक ले जाता है। हमारा पथ केवल अन्त में ही एक नहीं है बल्कि वह आरम्भ से ही एक रहा है।' जीव-तत्त्व नर और नारी, दो भागों में बंटा हुआ है और दोनों मिलकर ही इकाई पूर्ण होती है। कोई भी महान् कार्य किसी एक से अकेले संभव नहीं है। इसलिए श्रीअरविन्द के साथ माता जी की युति हो जाने के कारण यह कार्य भी तीव्र वेग से आगे बढ़ने लगा।

अलीपुर जेल में श्रीअरविन्द ने परब्रह्म की सत्ता का अनुभव किया था। २४ नवम्बर १९२६ को वे इस साक्षात्कार के अगले पड़ाव पर पहुँच गये जब उन्होंने अनुभव किया कि परम सत्ता उनके शरीर में पूर्णरूपेण अवतरित हो गयी है। इस समय आश्रम में केवल २४ व्यक्ति थे। उन सब

ने इस अवसर को शांत समारोह के साथ मनाया। इसके पश्चात् श्रीअरविन्द पूरी तरह एकांत में चले गये। उन्होंने आश्रम का सारा भार माताजी को सौंप दिया। अब वे वर्ष में चार बार ही दर्शन देने के लिए प्रकट होने लगे। परन्तु वे साधकों के सब प्रश्नों तथा समस्याओं का पत्रों के द्वारा उत्तर देते थे। इस कार्य में उनके कई घण्टे व्यतीत होने लगे।

सन् १९२८ में जब गुरुदेव पांडिचेरी आये तब श्रीअरविन्द ने अपना नियम तोड़कर उनसे भेंट की। कवि नाव पर बैठकर उनसे मिलने आये थे। इस भेंट के पश्चात् गुरुदेव ने कहा—'पहली ही दृष्टि में मुझे यह भान हो गया कि वे आत्मा की खोज में हैं और उन्होंने उसको प्राप्त भी कर लिया है। यही नहीं, सुदीर्घ साक्षात्कार की प्रक्रिया में उन्हें स्फूर्ति की मौन शक्ति भी प्राप्त हो गयी है। उनका मुख तेज से परिपूर्ण था और मुझ पर यह स्पष्ट हो गया कि कष्ट-सहन में आनन्द मानने वाली किसी अत्याचारी साधना के कारण उनकी आत्मा नष्ट नहीं हुई है। उनकी वाणी में मुझे प्राचीन हिन्दू ऋषि बोलता प्रतीत हुआ जो मानवी आत्मा को परम सत्ता का साक्षात्कार करने को मुक्त करता है। मैंने उनसे कहा—आपके पास परम शब्द है और हम उसे ग्रहण करने को उत्सुक हैं। आपके द्वारा भारत विश्व को अपना संदेश देगा।—वर्षों पूर्व जब मैंने उनको वीरतापूर्ण कृत्यों के बीच देखा था तब मैंने उनसे कहा—अरविन्द, मेरे प्रणाम स्वीकार करो। आज जब मैंने उन्हें ज्ञान तथा तप से परिपूर्ण देखा, तब भी मैंने मन ही मन दुहराया—हे अरविन्द, रवीन्द्रनाथ के प्रणाम स्वीकार करो।' गुरुदेव के अंग्रेज सचिव, श्री वाइली पियर्सन भी कुछ वर्ष पहले पांडिचेरी आकर साधना करने के लिए रहे थे।

सन् १९३८ में एक ऐसी घटना घटी जिससे श्रीअरविन्द के योग पर मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। उनकी दायीं जाँघ में फ्रैक्चर हो गया। इसकी व्याख्या में श्रीअरविन्द ने स्वयं यह बताया कि आसुरी शक्तियां माताजी के शरीर पर आक्रमण करने की योजना कर रही थीं। यह जानकर उन्होंने माताजी की रक्षा के लिए अपनी शक्तियां नियोजित कीं जिसका परिणाम यह हुआ कि आक्रमण माताजी के बजाय उन्हीं पर हो गया। उन्होंने कहा कि पृथ्वी पर अभी भी अन्धकार की ही शक्तियों का राज्य है और माताजी तथा वे उन्हें नष्ट करके ज्योतिर्मय सात्विक शक्तियों की स्थापना का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके इसी कार्य से रुष्ट होकर आसुरी शक्तियों ने यह आक्रमण किया था। इससे प्रकट है कि सृष्टि के सूक्ष्म रूप को देख पाने तथा उसे समझने की क्षमता श्रीअरविन्द को प्राप्त हो चुकी थी। वे उससे युद्ध भी करते थे। प्रायः यह युद्ध भौतिक धरातल पर भी प्रकट हो जाता था जैसा इस घटना में हुआ।

सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ा। हिटलर को श्रीअरविन्द ने आसुरी शक्ति की संज्ञा दी और उसके विरुद्ध एक वक्तव्य भी प्रकाशित किया। उन्होंने सूक्ष्म रूप से अपनी सात्विक शक्तियां भी जर्मनी की शक्ति के विरुद्ध लगायीं। जब युद्ध का भय भारत के समीप आने लगा, तब अनेक साधकों ने अपने परिवारों को माताजी के संरक्षण में रहने देने की प्रार्थना की। इसके लिए विशेष रूप से आश्रम के नियम ढीले किये गये। इन परिवारों के बच्चों के लिए माताजी ने एक स्कूल भी खोला। जो कालान्तर में विश्व-विद्यालय ही बन गया। महायुद्ध के समाप्त होने पर आश्रम

में समारोह मनाया गया और माताजी ने कहा—'हे प्रभु, तेरी विजय हुई। इसके लिए हम सब तेरा विपुल धन्यवाद करते हैं।

जब क्रिप्स मिशन भारत आया, तब श्रीअरविन्द ने उसके प्रस्तावों का समर्थन किया। उन्होंने अपना एक विशेष दूत भेजकर कांग्रेस महासमिति से उन्हें स्वीकार कर लेने की प्रार्थना भी की। इसी तरह १५ अगस्त १९४७ को भारतीय स्वाधीनता का समारोह आश्रम में उत्साहपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर श्रीअरविन्द ने त्रिचनापल्ली के ऑल इंडिया रेडियो से अपना वक्तव्य भी प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने कहा—'आज का दिन भारत के लिए एक प्राचीन युग का अन्त और एक नवीन युग का आरम्भ सूचित करता है। यह दिन केवल हमारे लिए ही नहीं वरन् एशिया और समस्त संसार के लिए एक अर्थ रखता है—कि इस दिन संसार के राष्ट्र-समाज के अन्दर एक नयी राष्ट्र-शक्ति प्रवेश कर रही है जिसमें अगणित संभावनाएं निहित हैं और जिसे मनुष्य-जाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य की रचना में एक महान् कार्य करना है। मैं सदा से यही मानता और कहता आ रहा हूँ कि भारत उठ रहा है और वह केवल अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए नहीं—यद्यपि इनकी भी उसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिए—अपितु भगवान् के लिए, जगत् के लिए, समस्त मानव-जाति के सहायक और नेता के रूप में जीवन यापन करने के लिए उठ रहा है।'

'अपने युवाकाल में मैंने जो आदर्श अपनाये थे वे इस प्रकार हैं—(१) एक क्रांति जिससे भारत को स्वाधीनता

प्राप्त हो, (२) एशिया का पुनर्जागरण और स्वातंत्र्य, (३) मानवता के लिए एक नवीनतर, उन्नततर जीवनधारा का विकास, (४) भारत का मानव-जाति को आध्यात्मिकता की साधना प्रदान करना तथा (५) क्रमविकास के अन्दर एक पग और रखना।'

'भारत ने सारे संसार को अपना आध्यात्मिक दान देना आरम्भ कर दिया है। इसकी गति दिन-दिन बढ़ती जायगी। आज के दिवस के साथ मैं इन्हीं भावनाओं को युक्त कर रहा हूँ। ये सब भावनाएं कहां तक सिद्ध होंगी, यह सब इस नवीन और स्वतंत्र भारत पर निर्भर करता है।' साथ ही उन्होंने यह भविष्यवाणी भी की कि दस वर्ष बाद भारत पाकिस्तान के साथ मिलकर फिर एक हो जायगा। खेद है कि यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई।

इन्हीं दिनों श्रीअरविन्द के साहित्य का अधिकांश प्रकाशित हुआ। सन् १९४४ में 'दि एडवेन्ट' के नाम से अंग्रेजी में एक त्रैमासिक निकालना आरम्भ किया गया जिसका उद्देश्य था श्रीअरविन्द द्वारा प्रस्तुत संसार के भविष्य की कल्पना का प्रतिपादन। इसका सम्पादन आश्रम के मंत्री, श्री नलिनीकांत गुप्त करते थे। इसके पांच वर्ष पश्चात् माताजी ने 'बुलेटिन आव फ़िज़िकल एजुकेशन' के नाम से एक सचित्र त्रैमासिक निकाला। इस पत्रिका में श्रीअरविन्द ने अतिमानस, भागवत शरीर, विकास आदि विषयों पर आठ महत्त्वपूर्ण लेख लिखे जो बाद में 'दि सुप्रामेंटल मेनीफेस्टेशन अपॉन अर्थ' के नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। इन्हीं दिनों 'अदिति' नामक त्रैमासिक भी आरम्भ किया गया जो अब भी निकल रहा है।

श्रीअरविन्द ने विपुल साहित्य की रचना की है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो सामान्य सांस्कृतिक विषयों पर हैं और शेष ऐसे हैं जिनमें उनके अपने दर्शन तथा योग का प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से उन्होंने गीता तथा वेद का विवेचन भी किया है। वेदों का अध्ययन उन्होंने पांडिचेरी आकर ही किया था। वेदार्थ के संबंध में भारत में आज जितने मत हैं, उन सबसे श्रीअरविन्द का मत भिन्न है। वे वेदों के आध्यात्मिक अर्थ करते हैं, परन्तु इसमें भी उनकी अपनी दृष्टि है। उनका कहना है कि वैदिक ऋषियों को जो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती थीं, वे विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं। उनके द्वारा की गयी गीता की व्याख्या भी कुछ इसी प्रकार की है।

श्रीअरविन्द कवि भी थे। पांडिचेरी में भी उन्होंने अनेक फुटकर कविताएं लिखीं तथा 'सावित्री' नामक एक महाकाव्य भी लिखा। इस महाकाव्य में प्रतीक रूप से भागवत चेतना के अवतरण का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कवि और कविता के मूल्यों पर भी अपने क्रांतिकारी विचार व्यक्त किये और बताया कि भविष्य का कवि कैसा होगा।

श्रीअरविन्द का योग एक कठिन योग है। वे प्रायः कहा करते थे : 'इस योग को किसी ने भी ग्रांड ट्रंक रोड नहीं अनुभव किया है, न तो 'क' और 'ख' ने, यहाँ तक कि न मैंने और न माताजी ने। इस तरह के सब विचार रोमांचकारी भ्रम ही हैं।' फिर भी व्यक्तिगत अनुभव् के द्वारा उन्होंने अन्य साधकों के लिये इसे अधिक से अधिक सुगम कर दिया। एक बार उन्होंने कहा : 'हम अनेक कष्टों और संघर्षों में से गुजर चुके हैं। हमें सभी मार्गों का परीक्षण, सभी विधियों का

अनुसरण करना पड़ा है और कठिनाइयों के पहाड़ों को पार करना पड़ा है। परन्तु यह आवश्यक नहीं और न यह वांछनीय ही है कि यह सब कुछ दूसरों के अनुभव में भी नये सिरे से पूरे का पूरा दुहराया जाय। चूँकि हमें अनुभव है, इसलिए हम दूसरों को अधिक सीधा, अधिक सरल मार्ग दिखा सकते हैं—यदि वे केवल इसका अवलंबन करना स्वीकार करें।'

अतिमानस के अवतरण के विषय में उन्होंने कहा—'मैं इसकी संभावना में ही नहीं अपितु इसकी सुशक्यता में भी विश्वास करता हूँ। यद्यपि मैं कोई तिथि नियत नहीं करता, फिर भी मैं अतिमानसिक अवतरण के संबंध में व्यवहारतः निस्संदिग्ध हूँ। ऐसे विश्वास के लिए मेरे पास आधार है। यह कोई हवाई विश्वास नहीं है। इसीलिए मैं परिमित समय के भीतर उसे अवतरित करने के लिए अपने पूरे बल से प्रयास कर रहा हूँ। मैं इसे निकट भविष्य में ही उतारना चाहता हूँ और पार्थिव प्रकृति के किसी भी अन्धकारमय प्रतिरोध या इसे रोकने के लिए यत्नशील आसुरी शक्तियों के प्रचण्ड आक्रमणों के होते हुए भी यह शक्ति धरती के निकट आ रही है।'

अवतरण की अभिव्यक्ति के संबंध में एक वार उन्होंने कहा—'यह सत्य है कि उच्चतर शक्ति का अधिकाधिक शक्तिशाली अवतरण हो रहा है। तुम में से बहुत से लोग अब माताजी के चारों ओर प्रकाश और रंग तथा उनके सूक्ष्म ज्योतिर्मय रूप देखते हैं। यह कोई कल्पना नहीं है। इसका मतलब है कि उनकी दृष्टि अतिभौतिक सद्वस्तुओं की ओर खुल रही है। जो रंग या प्रकाश तुम देखते हो, वे नाना-

स्तरों की शक्तियां हैं और प्रत्येक रंग एक विशेष शक्ति का सूचक है।······अतिमानस शक्ति उतर रही है। परन्तु इसने शरीर या जड़तत्त्व पर अभी अधिकार नहीं किया है। जो शक्ति जड़तत्त्व को छू चुकी है, वह मानस और अतिमानस के मध्य की अधिमानस शक्ति है और वह किसी भी समय मूल अतिमानस शक्ति में परिणत हो सकती है या उसे स्थान दे सकती है।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि अवतरित होने के बाद अति-मानस कैसा व्यवहार करेगा, उन्होंने कहा : अतिमानस के अवतरण के विषय में हमारा जैसा ख्याल है, वह पहले कुछ थोड़े से लोगों में ही अभिव्यक्त होगा और फिर औरों में फैलेगा। यह संभव नहीं प्रतीत होता कि वह एक ही क्षण में सारे भूमण्डल पर छा जाय।

इसका तात्पर्य यह होता है कि अतिमानस-संपन्न व्यक्तियों या प्राणियों का एक स्वतंत्र समूह ही बन जायगा। जैसे-जैसे अन्य मानव प्राणी इसके योग्य बनते जायेंगे, वैसे-वैसे यह फैलता भी जायगा।

प्राय: लोग पूछा करते थे कि अतिमानस का स्वरूप कैसा होगा। इस सम्बन्ध में श्रीअरविन्द ने कहा—इस विषय पर अत्यधिक वाद-विवाद करना उचित नहीं कि अतिमानस क्या करेगा और उसे किस तरह करेगा, क्योंकि ये तो ऐसी चीजें हैं जिन्हें वह अपने अन्दर के भागवत सत्य के द्वारा कार्य करते हुए स्वयं निश्चित करेगा। मन को उसका रास्ता निश्चित कर देने का यत्न कदापि नहीं करना चाहिए। स्वभावत: ही, अवचेतन, अविद्या और रोग से मुक्ति, इच्छानुसार आयु की प्राप्ति और शरीर के व्यापारों में

परिवर्तन—ये सब अतिमानसिक परिवर्तन के अन्तिम तत्त्वों में से होंगे।

एक अन्य अवसर पर इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा—यद्यपि अपने कार्य के विषय में कुछ विचार मेरे मन में हैं, किन्तु इसका यथार्थ रूप क्या होगा, यह स्वयं मुझे भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। सारी योजना तो अभी तक मुझे भी अवगत नहीं हुई है अन्यथा वह मैं स्वयं ही तुम्हें बतला देता।...... यदि मैं अपने विचार तुम्हें बतला दूं तो तुम उन्हे गलत समझ लोगे और उनका गलत प्रयोग कर बैठोगे तथा उन्हें क्रियान्वित करने की तुरत-फुरत चेष्टा करने लगोगे। तुम अनेकों मानसिक रूप-रचनाएं निर्मित कर लोगे जो अन्ततः उच्चतर शक्ति के अवतरण में बाधक भी बन सकती हैं।..... सत्य की रचनाएं गहन होती हैं, वे किसी कटे-छटे सूत्र के रूप में नहीं बतायी जा सकतीं। हाँ, उसके कुछ रूप तो अवश्य होंगे पर वे विकसनशील होंगे और विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न होंगे। सत्यशक्ति प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके 'स्वधर्म' के अनुसार तथा परिस्थितियों के विकास के अनुसार कार्य निश्चित करेगी।

एक बार एक साधक ने बहुत दुःखी होकर उनसे कहा—जब तक अतिमानस अवतरित नहीं होता, तब तक आप उसके बारे में कुछ भी नहीं कहेंगे। बस, इसके विषय में यही महान् रहस्य है जिसके कारण हम उस पर अपना पूरा विश्वास बनाये हुए हैं और 'अतिमानस' शब्द एक मुँह से दूसरे मुँह फैल रहा है। आह, यदि हमें उसकी अस्पष्ट सी झाँकी भी मिली होती !

इसका उत्तर देते हुए श्रीअरविन्द ने विनोदपूर्वक कहा—

इस 'मुँह से मुँह' वाली कार्रवाई से बहुत अधिक लाभ नहीं है। यदि मैं अतिमानसिक चेतना के विषय में समझाने की कोशिश करने लगूँ तो सारा मामला ही चौपट हो जायगा। साधकों का शेष जीवन उसी के विषय में तर्क-वितर्क करते हुए बीतेगा और वे विवाद करने लगेंगे कि नीरोद या निशिकांत या अनिलवरण अतिमानस के कितने नजदीक हैं अथवा यह अतिमानस है या वह अथवा चाय पीना अतिमानसिक कार्य है या नहीं आदि-आदि।......समझाने की कोशिश करने के कारण ही एक बार बहुत से लोगों ने एक ऐसी चीज़ को अतिमानस मान लिया ज़ो आध्यात्मिक भी नहीं थी। फिर वे अपने-आप को अतिमानव समझने लगे जबकि वे नितांत निम्नकोटि के प्राणमय स्तर में सिर के बल दौड़ने के सिवा और कुछ भी नहीं कर रहे थे।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि श्रीअरविन्द के समक्ष भी अतिमानसिक अवस्था की कल्पना पूर्णतः स्पष्ट नहीं थी। यदि इस विषय में उनके कुछ विचार थे भी तो वे उन्हें प्रकट नहीं करते थे जिसका कारण उन्होंने स्वयं ही बताया है। वे सदा इसी पर बल देते थे कि साधक निष्ठापूर्वक अपनी योग-साधना में आगे बढ़ते चले जायं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने स्वयं योग-साधना में किन-किन अवस्थाओं को किस-किस प्रकार पार किया। यदि उनकी संपूर्ण योग-साधना तथा उसके क्रमिक आरोहण का किसी प्रकार आन्तरिक इतिहास लिखा जा सके, तो भविष्य के साधकों को उससे बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि उन्हें अपने उद्देश्य की संभावना पर पूर्ण आस्था थी। इसीलिए वे एकांत भाव से इसी कार्य में लगे रहे। वे

चाहते तो कोई सम्प्रदाय भी चला सकते थे। एक बार उन्होंने स्वयं यह कहा था—जब प्राण के धरातल पर साधना चल रही थी, तब तो सब हर्ष, शांति और आनंद ही आनंद था। यदि हम वहीं रुक जाते तो एक बड़ा धर्म या विशाल संगठन चला सकते थे। किन्तु जो लक्ष्य हमें प्राप्त करना है, उसके लिए प्रयत्न का आरम्भ भी न हो पाता।

देहांत और अनन्तर

५ दिसम्बर १९५० को प्रातः १ बजकर २६ मिनट पर श्रीअरविन्द का शरीरांत हुआ। इस घटना ने सबको आश्चर्य में डाल दिया क्योंकि इस समय उनकी अवस्था केवल ७८ वर्ष की थी और लोग अपेक्षा करते थे कि योग-साधना में बहुत आगे बढ़े होने के कारण उनकी आयु भी अवश्य लम्बी होगी। इसके अतिरिक्त अतिमानस के अवतरण का प्रयोग भी अब तक पूर्ण नहीं हुआ था। देहांत से पूर्व श्रीअरविन्द ने इसकी कोई कल्पना भी किसी को नहीं दी थी, यद्यपि लोग अनुमान लगाते हैं कि उन्हें स्वयं इसका आभास हो चुका था। इसका एक आधार यह बताया जाता है कि कुछ मास पूर्व से उन्होंने अपने प्रतीकात्मक महाकाव्य 'सावित्री' को, जिसे वे वर्षों से बहुत धीरे-धीरे लिखते आ रहे थे, बहुत जल्दी-जल्दी बोलकर लिखाना आरम्भ कर दिया था और कहा था कि, 'अब इसे शीघ्र समाप्त करना है।' इसमें १२ सर्ग होने थे जिसके ११ तो उन्होंने पूर्ण करा दिए थे, अन्तिम 'मृत्यु' का सर्ग फिर भी नहीं लिखाया। दूसरा आधार यह बताया जाता है कि वे,

जो कभी किसी पर अपनी पितृत्वपूर्ण करुणा को व्यवहारतः कभी प्रकट नहीं करते थे, इन दिनों अपनी सेवा करने वाले सभी व्यक्तियों पर विशेष रूप से कृपालु हो उठे—शायद इसलिए कि समय बीत जाने पर किसी को उनसे कुछ शिकायत न रह जाय।

कहा जाता है कि नवम्बर मास में एक गुजराती ज्योतिषी की भविष्यवाणी उन्हें पढ़कर सुनायी गयी। इसमें दो वर्षों—सन् १९५० और १९६४—की ओर विशेष रूप से संकेत किया गया था। सन् १९५० के विषय में उसने लिखा था कि, 'इस वर्ष में श्रीअरविन्द द्वारा एक प्रकार के आत्महनन की संभावना है।' सन् १९६४ के विषय में उसने लिखा था कि, 'इस वर्ष में उनकी शक्ति का कोई महान् चमत्कार देखने में आयेगा। इस वर्ष, ९३ वर्ष की आयु में, वे अपना मिशन पूर्ण करके स्वेच्छा से संसार त्याग देंगे।' यह सुनकर श्रीअरविन्द ने अपना हाथ उठाया और कहा: '९३ वर्ष में'—जैसे यह समय उन्हें बहुत लम्बा प्रतीत हुआ हो। सन् १९५० के विषय में एक साथी ने कहा कि, यह वर्ष अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होगा क्योंकि श्रीअरविन्द के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएं हर १२ वर्ष बाद ही घटती रही हैं—सन् १९२६ में उन्हें आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हुई, सन् १९३८ में उनकी जाँघ में फ्रैक्चर हुआ। (सन् १९१४ में माताजी पांडिचेरी आयी थी।—लेखक) यह सब सुनकर श्रीअरविन्द ने कहा—'इस ज्योतिषी को अवश्य ही कुछ सत्य का पता है।' तब उनसे पूछा गया—'इस वर्ष आपके आत्महनन की बात तो बेवकूफी की ही लगती है। आप हमें अभी छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे।' इस पर श्रीअरविन्द ने केवल एक शब्द कहा: 'क्यों?'

प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक आरोहण के अपने संघर्ष में श्रीअरविन्द किसी महान् संकट का अनुभव करने लगे थे। यह बहुत संभव भी है। क्योंकि यह एक ऐसा अन्धकारमय जगत् है जिस पर मानवता के समग्र इतिहास में पहली बार उन्हीं ने कदम रखे थे। इसलिए उसकी बाधाएं और संघर्ष भी कठिन ही होने चाहिए। उन्होंने स्वयं भी कभी इस कार्य को सरल नहीं बताया। तब उन्होंने सोचा हो कि स्वयं अपने शरीर का त्याग करके कम से कम माताजी के लिए अति-मानस का अवतरण सुरक्षित कर दें। यह भी हो सकता है, कि नये अवतरण के लिए नया शरीर आवश्यक हो और मध्यवर्ती कार्य अशरीरी रहकर ही करना हो। जो भी हो, इस विषय में अंतिम रूप से सन् १९६४ के पश्चात् ही कुछ कहना उचित होगा और वह समय भी अब दूर नहीं है।

बाह्य रूप से यही देखने में आया कि वे बेहोश हो गये और इस बेहोशी का कारण था रक्त में विष एकत्र हो जाने के कारण मूत्रेन्द्रिय की क्रिया का रुक जाना। परन्तु ऐसी दशा में होता यह है कि विष के प्रभाव से शरीर काला पड़ जाता है और बेहोशी किसी भी प्रकार दूर नहीं होती। उनके साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं हुई। वे बार-बार आँखें खोलते थे और पानी माँगते थे या समय पूछते थे। नाड़ी रुकने से केवल आध घण्टा पूर्व भी उन्होंने डाक्टर से बात की। इसी तरह उनका शरीर भी बहुत समय तक सुनहरी आभा से चमकता रहा। संभवतः यह अतिमानसिक चेतना की ही ज्योति थी जो पूरे ९० घण्टे तक उन पर प्रकाशमान रही और जिसके कारण माताजी को अन्त्येष्टि भी स्थगित करनी पड़ी। लोग उनका दर्शन करने के लिए निरन्तर आते

रहे। लगभग १११ घण्टे के पश्चात् ही यह आभा नष्ट हुई और लगा कि अब शरीर सड़ने लगेगा। तब उसे, ९ दिसंबर को सायंकाल ५ बजे, समाधि दे दी गयी।

इससे दो दिन पूर्व, ७ दिसम्बर को, माताजी ने निम्न शब्द कहे—हे प्रभु, आज प्रातःकाल आपने मुझे विश्वास दिलाया है कि जब तक आपका कार्य पूर्ण नहीं हो जाता, आप हमारे मध्य रहेंगे—आप केवल एक मार्गदर्शक चेतना की भाँति नहीं अपितु एक कार्यशील व्यक्तित्व की भाँति हमारे बीच उपस्थित रहेंगे। स्पष्ट शब्दों में आपने यह वचन दिया है कि जब तक पृथ्वी रूपान्तरित नहीं होती, आप पूरी तरह यहीं रहेंगे और इस वातावरण को नहीं छोड़ेंगे। हे प्रभु, आशीष दें कि हम आपकी उपस्थिति का पूरा लाभ उठा सकें और पहले से अधिक एकाग्रता से आपके महान् कार्य में दत्तचित्त हो जायें।

इसके दूसरे दिन उन्होंने कहा—अपना शरीर छोड़ने के पक्ष में श्रीअरविन्द के निर्णय लेने का कारण है उनके कार्य के प्रति पृथ्वी और मनुष्यों में ग्रहणशीलता का अभाव। लेकिन एक बात निश्चित है—भौतिक धरातल पर जो भी हुआ है, उससे उनकी शिक्षा की सत्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो कुछ उन्होंने कहा, वह पूर्ण सत्य है और रहेगा। समय और घटनाएं इसे प्रमाणित करेंगी।

१४ दिसम्बर को उन्होंने कहा—शोक करना श्रीअरविन्द का अपमान करना है क्योंकि वे हमारे साथ सचेत और जीवंत रूप में विद्यमान हैं।

इसके बाद भी अनेक बार माताजी ने श्रीअरविन्द की

उपस्थिति के विषय में अपना आन्तरिक विश्वास व्यक्त किया। आश्रमवासियों की साधना जारी रही और अब भी चल रही है।

सन् १९५६ में माताजी ने एक और महत्त्वपूर्ण घोषणा की। उन्होंने कहा—पृथ्वी पर अतिमानस की अभिव्यक्ति अब एक आश्वासन नहीं रह गयी है, वह एक जीवंत तथ्य, एक वास्तविक सत्य बन गयी है। अतिमानस यहाँ कार्य कर रहा है और एक दिन ऐसा आयेगा जब कि अत्यन्त अन्ध, अत्यन्त अचेतन, यहाँ तक कि अत्यन्त अनिच्छुक लोग भी इसे स्वीकार करने को बाध्य होंगे।

× × ×

प्रार्थना है, वह दिन आये। मानवता का समग्र इतिहास दुःख-क्लेश की एक अंतहीन गाथा है। यही नहीं, इसका अर्थ, इसका मन्तव्य भी आज तक ढूँढे नहीं मिला। आज से ढाई हजार साल पहले, जब जनसंख्या बहुत कम थी, खाने-पीने को भरपूर था और सृष्टि सौंदर्य से नहा रही थी, तब भी गौतम बुद्ध ने यही कहा कि—'अरे, इस संसार में कितना-कितना दुःख है। यहां कोई ईश्वर नहीं है, यहां कोई आत्मा नहीं है।' उसे दूर करने का उन्हें दूर-दूर तक कोई उपाय नहीं दिखायी दिया। तब, शायद हार कर ही, उन्होंने कहा—'आओ, हम इस जीवन-दीप को ही बुझा दें। आओ, संघबद्ध होकर हम निर्वाण के मार्ग पर चलें।' तब से अब तक, ज्ञान-विज्ञानों का बहुविध विकास हो जाने पर भी, संस्कृति-सभ्यताओं की नवनवीन विधाएं निर्मित हो जाने पर भी इस दुःख को घटाया नहीं जा सका है, न इस जीवन का कोई सुकर अर्थ ही खोजा जा सका है। यह महान् दुःख बढ़ता

ही रहा है, बढ़ता ही जा रहा है। इसलिए इलियट को कहना पड़ा—'अरे, इस वेदना को, इस निराशा को संसार का मनुष्य सह नहीं पा रहा। इसे नष्ट करो, इसे नष्ट करो।' आलबेयर कामूँ ने पुकारा—'ओ मानव जीवन, तू कितना निरर्थक, कितना मूर्खतापूण है। क्या तेरा कोई भी अर्थ है, समस्त दुःख-कष्ट के बावजूद भी क्या तेरा कोई मन्तव्य है? नहीं है, कोई भी अर्थ नहीं है।......लेकिन शायद है, कुछ तो अवश्य ही है क्योंकि संसार के सब जीव-जन्तुओं में तू ही ऐसा है जो कोई न कोई अर्थ ढूंढ निकालने को सदा से व्याकुल रहा है, आज भी व्याकुल है।'

क्या है यह अर्थ और क्या है यह मन्तव्य? जिसने भी इसकी दिशा में प्रकाश की एक भी किरण डाली, हमने उसी पर आशा लगायी। इस तरह द्वन्द्व करते हुए हम अपना जीवन जीते आ रहे हैं। आज श्रीअरविन्द ने इस गहन अन्धकार को चीर कर प्रकाश की एक किरण बिखरायी है, एक नये तरह के अर्थ से जगत् और जीवन को भासमान करने का प्रयत्न किया है। हम अबोध मानव उत्सुकता से उधर ही निहार रहे हैं। सोच रहे हैं कि कहीं यह दीपक भी बुझ न जाय। प्रार्थना कर रहे हैं कि इस दीपक की ज्योति को हमारे घरों में प्रवेश करने दो। उसे कोई मत रोको, आँधी-तूफान से उसकी रक्षा करो।

लेकिन क्या यह दीपक बुझ जायगा? क्या यह बुझ गया है? कौन जानता है? आज तक समय से पूर्व सृष्टि के किसी भी रहस्य को किसने जाना है? ●